श्रीमद्भगवद्गीता

(हिन्दी अनुवादसहित)

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

श्रीमद्भगवद्गीता का यह संस्करण प्रकाशित करते हमें प्रसन्नता हो रही है।

संसार के सभी धर्मग्रन्थों में गीता का स्थान अद्वितीय है। वस्तुत: गीता को भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का प्रतीक एवं प्रतिनिधि कहा जा सकता है। तथापि गीता में निहित सत्य केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु किसी भी देश, काल, जाति, वर्ण, आश्रम एवं सम्प्रदाय के मानव के लिए समान रूप से उपयोगी है। गीता सार्वभौम, सार्वजनीन सत्य सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है।

हमारे सनातन धर्म का मूल वेद है। अन्य सभी धर्मग्रन्थ वेदप्रतिपादित धर्म को समझाने के लिए ही रचित हुए हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से वेदों के दो प्रमुख विभाग माने जाते है – कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्मों तथा ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक ज्ञान का समावेश होता है। ज्ञानकाण्ड में ही उपनिषदों का अन्तर्भाव होता है। यही वेदों का अन्तिम उपदेश होने के कारण इसे वेदान्त कहा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

(हिन्दी-अनुवाद-सहित)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प १०९

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित)

वर्ष १९८८ ते २०१५ तक : १,००,०००
बारहवाँ पुनर्मुद्रण : १०.३.२०१६
मुद्रित प्रतियाँ : ६,०००

मुद्रक :
लक्ष्मी ऑफसेट, नागपुर

मूल्य : रु. ३५.००

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

श्रीमद्भगवद्गीता का यह संस्करण प्रकाशित करते हमें प्रसन्नता हो रही है।

संसार के सभी धर्मग्रन्थों में गीता का स्थान अद्वितीय है। वस्तुत: गीता को भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का प्रतीक एवं प्रतिनिधि कहा जा सकता है। तथापि गीता में निहित सत्य केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु किसी भी देश, काल, जाति, वर्ण, आश्रम एवं सम्प्रदाय के मानव के लिए समान रूप से उपयोगी है। गीता सार्वभौम, सार्वजनीन सत्य सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है।

हमारे सनातन धर्म का मूल वेद है। अन्य सभी धर्मग्रन्थ वेदप्रतिपादित धर्म को समझाने के लिए ही रचित हुए हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से वेदों के दो प्रमुख विभाग माने जाते है – कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्मों तथा ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक ज्ञान का समावेश होता है। ज्ञानकाण्ड में ही उपनिषदों का अन्तर्भाव होता है। यही वेदों का अन्तिम उपदेश होने के कारण इसे वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त के तीन प्रस्थान माने जाते हैं: (१) श्रौत प्रस्थान या उपनिषद्, (२) स्मार्त प्रस्थान या गीता, तथा (३) दार्शनिक प्रस्थान या व्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्र। इससे गीता का महत्त्व हमारे ध्यान मे आ सकता है। यद्यपि महाभारत के अन्तर्गत होने के कारण गीता स्मृतिग्रन्थ है, किन्तु अपनी विशेषता के कारण इसकी गणना उपनिषदों की श्रेणी में होती है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका आती है उसमें हम 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ...' इस प्रकार उल्लेख पाते हैं। इस पर से यह दिखाई देता है कि गीता का वास्तविक नाम है श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् – अर्थात् श्रीभगवान् के द्वारा गायी गयी उपनिषद्। इसमें परब्रह्मविषयक ज्ञान निहित होने के कारण यह ब्रह्मविद्या है, साथ ही उस ज्ञान की प्राप्ति के उपाय भी इसी में वर्णित होने के कारण ये योगशास्त्र भी है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। श्रीशंकराचार्य के शब्दों में यह 'समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूत' है। मोहमग्न मानवजाति के उद्धारार्थ अवतीर्ण हुए साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण ने मानो अर्जुन को निमित्त बनाकर सारे संसार को यह ज्ञान प्रदान किया है। इसीलिए तो कहा गया है :–

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।।

– गीता को भलीभाँति आयत्त कर लेना चाहिए – अन्य शास्त्रों का विस्तार करने की आवश्यकता ही क्या है? गीता स्वयं भगवान् विष्णु के मुखकमल से प्रकट जो हुई है।

गीता में कर्म-ज्ञान-भक्ति का बड़ा मनोरम समन्वय दिखाया गया है। गीता हमारे जीवन को सर्वांगीण रूप से विकसित करती हुई हमें अज्ञाननिवृत्ति और स्वस्वरूपप्राप्ति-रूप अन्तिम लक्ष्य की ओर परिचालित करती है।

जीवन में स्वधर्म के यथायोग्य आचरण से – अर्थात् फल की आकांक्षा और आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्पणभाव से स्वकर्म करते रहने से – चित्त शुद्ध हो जाता है तथा उस शुद्ध चित्त में ज्ञान प्रकट होकर मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। – यही गीतोक्त उपदेश की प्रमुख धारा है।

गीता साधकों का अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ है। इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं टीकाएँ रची हैं।

प्रस्तुत संस्करण में अनुवाद को यथासम्भव मूल संस्कृत के अनुसार रखने का प्रयास किया गया है ताकि पाठकों को मूल संस्कृत श्लोक समझने में सहायता हो सके। भावग्रहण की सुविधा के लिए जो आवश्यक शब्द जोडे गये हैं उन्हें कोष्ठक में रखा गया है। इसके सिवा आवश्यकता-नुसार पादटिप्पणियों का भी उपयोग किया गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों का अर्थ शांकरभाष्य एवं श्रीधरी टीका के अनुसार किया गया है।

हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण श्रद्धालु पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

नागपुर
१८ अक्तूबर १९८८ — **प्रकाशक**
श्रीदुर्गाष्टमी

अनुक्रमणिका

			पृष्ठक्रमांक
गीतापाठविधी		...	(८)
गीताध्यानम्		...	(१२)
गीताकवचम्		...	(१६)
	श्रीमद्भगवद्गीता		
१. प्रथमोऽध्यायः	(अर्जुनविषादयोगः)		२
२. द्वितीयोऽध्यायः	(सांख्ययोगः)		१८
३. तृतीयोऽध्यायः	(कर्मयोगः)		४६
४. चतुर्थोऽध्यायः	(ज्ञानयोगः)		६२
५. पञ्चमोऽध्यायः	(संन्यासयोगः)		७८
६. षष्ठोऽध्यायः	(ध्यानयोगः)		९०
७. सप्तमोऽध्यायः	(ज्ञानविज्ञानयोगः)		१०८
८. अष्टमोऽध्यायः	(अक्षरब्रह्मयोगः)		१२०
९. नवमोऽध्यायः	(राजविद्याराजगुह्ययोगः)		१३२
१०. दशमोऽध्यायः	(विभूतियोगः)		१४६
११. एकादशोऽध्यायः	(विश्वरूपदर्शनयोगः)		१६२

१२.	द्वादशोऽध्यायः	(भक्तियोगः)	१८८
१३.	त्रयोदशोऽध्यायः	(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः)	१९६
१४.	चतुर्दशोऽध्यायः	(गुणत्रयविभागयोगः)	२१०
१५.	पञ्चदशोऽध्यायः	(पुरुषोत्तमयोगः)	२२२
१६.	षोडशोऽध्यायः	(दैवासुरसम्पद्विभागयोगः)	२३२
१७.	सप्तदशोऽध्यायः	(श्रद्धात्रयविभागयोगः)	२४२
१८.	अष्टादशोऽध्यायः	(मोक्षसंन्यासयोगः)	२५४
	गीतामाहात्म्यम्		२८६
	परिशिष्ट		२९४

गीतापाठ-विधि

शुद्ध होकर स्थिर चित्त से आसन पर बैठकर गन्ध-पुष्पादि के द्वारा गीताग्रन्थ का पूजन करे।

तत्पश्चात् हाथ जोड़कर निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ करे –

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये॥
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
व्यासं वशिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्मविधये वशिष्ठाय नमो नमः॥
अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणिः॥

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यासः ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इति बीजम्। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति शक्तिः। 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति कीलकम्।

तदनन्तर करन्यास एवं अंगन्यास करे।

करन्यास

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः। – यह मन्त्र कहते हुए दोनों तर्जनियों द्वारा उस उस हाथ के अँगूठों का स्पर्श करे।

'न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः' इति तर्जनीभ्यां स्वाहा। – यह मन्त्र कहते हुए दोनों अँगूठों द्वारा उस उस हाथ की तर्जनियों का स्पर्श करे।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' इति मध्यमाभ्यां वषट्। – यह मन्त्र कहते हुए दोनों अँगूठों द्वारा उस उस हाथ की मध्यम अँगुलियों का स्पर्श करे।

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति अनामिकाभ्यां हुम्। – यह मन्त्र कहते हुए दोनों अँगूठों द्वारा उस उस हाथ की अनामिकाओं का स्पर्श करे।

'पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इति कनिष्ठाभ्यां वौषट्। – यह मन्त्र कहते हुए दोनों अँगूठों द्वारा उस उस हाथ की कनिष्ठाओं का स्पर्श करे।

'नानाविधानि दिव्यानि नाना वर्णाकृतीनि च' इति करतलपृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिनी हथेली द्वारा बायीं हथेली के तल एवं पृष्ठ भागों का स्पर्श करके बायीं हथेली पर आघात करे।

अंगन्यास

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इति हृदयाय नमः। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी-मध्यमा-अनामिका इन तीन अँगुलियों के अग्रभाग द्वारा हृदय का स्पर्श करे।

'न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः' इति शिरसे स्वाहा। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियों के अग्रभाग द्वारा सिर के ऊपरी भाग का स्पर्श करे।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' इति शिखायै वषट्। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिने हाथ के अँगूठे द्वारा शिखा का स्पर्श करे।

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति कवचाय हुम्। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिने हाथ की सभी अँगुलियों द्वारा बायें बाहुमूल का तथा बायें हाथ की सभी अँगुलियों द्वारा दाहिने बाहुमूल का स्पर्श करे।

'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इति नेत्रत्रयाय वौषट्। –यह मन्त्र कहते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी-मध्यमा-अनामिका इन तीन अँगुलियों के अग्रभागों द्वारा क्रमशः दाहिने नेत्र, नासिकामूल तथा बायें नेत्र का स्पर्श करे।

'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च' इति करतलपृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्। – यह मन्त्र कहते हुए दाहिनी हथेली द्वारा बायीं हथेली के तल एवं पृष्ठ भागों का स्पर्श करके बायीं हथेली पर आघात करे।

●

तत्पश्चात् 'श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः' यह मन्त्र कहते हुए संकल्प करे कि मैं भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए गीतापाठ कर रहा हूँ। इसके उपरान्त गीताध्यान का पाठ करे तथा श्रीभगवत्स्मरणपूर्वक प्रणाम और प्रार्थना करके गीतापाठ आरम्भ करे। सम्पूर्ण गीता का पाठ करके अन्त में गीतामाहात्म्य का पाठ करे।

□□□

गीताध्यानम्

ॐ

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।१।।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः।।२।।
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।३।।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।४।।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।५।।

गीताध्यान

साक्षात् भगवान् नारायण के द्वारा अर्जुन को कही गयी, प्राचीन मुनि व्यासदेव द्वारा महाभारत में ग्रथित की गयी, अठारह अध्यायोंवाली, अद्वैतरूपी अमृत बरसानेवाली तथा पुनर्जन्म का नाश करनेवाली, हे भगवती जननी भगवद्गीते! मैं तुम्हारा अनुध्यान करता हूँ। १

खिले हुए कमलपत्र जैसे आकर्ण नेत्रोंवाले तथा विशाल बुद्धिवाले हे व्यासदेव! जिन आपके द्वारा महाभारतरूपी तेल से भरा ज्ञानमय दीप जलाया गया, उन आपको नमस्कार है। २

जो शरणागत के लिए कल्पवृक्ष जैसे हैं, (रथ हाँकने के लिए) जिनके एक हाथ में चाबुक और लगाम है, जो ज्ञानमुद्रा से युक्त तथा गीतारूपी अमृत का दोहन करनेवाले हैं, उन श्रीकृष्ण को नमस्कार है। ३

सभी उपनिषदें गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले (ग्वाले) हैं, अर्जुन बछड़ा है, महान् गीतारूपी अमृत दूध है और सुधी (अर्थात् विवेकीगण) उस दूध का उपभोग करनेवाले हैं। ४

वसुदेव के पुत्र, कंस और चाणूर (दैत्यों) के विनाशक, (माता) देवकी को परम आनन्द देनेवाले जगद्गुरु श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ। ५

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला।
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी।
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तक: केशव:।।६।।

पाराशर्यवच:सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं।
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।।
लोके सज्जनषट्पदैरहरह: पेपीयमानं मुदा।
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि न: श्रेयसे।।७।।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।।८।।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुत: स्तुवन्ति दिव्यै: स्तवै-
र्वेदै: साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगा:।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदु: सुरासुरगणा: देवाय तस्मै नम:।।९।।

भीष्म और द्रोण जिसके दो तट हैं, जयद्रथ जिसका जल है, गान्धारराज जिसमें नीला पत्थर है, शल्य जिसमें ग्राह है, कृपाचार्य जिसमें प्रवाह हैं, कर्ण जिसमें तीरों को व्याप्त करनेवाली तरंग है, अश्वत्थामां एवं विकर्ण जिसमें भयंकर मकर है, दुर्योधन जिसमें भँवर है, ऐसी उस युद्धरूपी नदी को श्रीकृष्णरूपी केवट के कारण पाण्डव पार कर गये। ६

पराशरपुत्र (अर्थात् व्यासदेव) के वचनरूप सरोवर से उत्पन्न हुआ, गीतार्थरूप तीव्र सुगन्ध से युक्त, नानाविध आख्यानरूपी परागों से पूर्ण, हरि की वाणी से सम्बोधित होकर खिला हुआ, संसार में सज्जनरूपी भँवरों द्वारा प्रतिदिन आनन्दपूर्वक पान किया जानेवाला, निर्मल, कलिमल-नाशक, महाभारतरूप कमल हमारे कल्याण का कारण बने। ७

जिनकी कृपा गूँगे को वाचाल बनाती है, पंगु से पर्वत लँघवाती है, उन परमानन्दस्वरूप माधव की मैं वन्दना करता हूँ। ८

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र एवं मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों के द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामगायकगण वेदांग, पद, क्रम एवं उपनिषदों के सहित वेदों के द्वारा जिनका गायन करते हैं, योगिगण ध्यान में स्थित तद्गत हुए चित्त से जिनका दर्शन करते हैं तथा देव एवं असुरगण भी जिनका अन्त नहीं जानते, उन देव को नमस्कार है। ९

गीताकवचम्

ॐ अस्याः श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीवेदव्यासो भगवानृषिः। अनुष्टुबादि छन्दांसि। श्रीकृष्णो वासुदेवः परमात्मा देवता। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इति बीजम्। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति कीलकम्। 'मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' इति कवचम्। एवम्प्रकारेण श्रीगोपालकृष्णवासुदेवभगवत्प्रीत्यर्थं कवचरूपे विनियोगः।

श्रीमज्ज्ञानात्मने श्रीकृष्णाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

श्रीमदैश्वर्यात्मने वैश्वानराय तर्जनीभ्यां स्वाहा।

श्रीवासुदेवाय मध्यमाभ्यां वषट्।

श्रीमद्बलात्मने बलभद्राय अनामिकाभ्यां हुम्।

श्रीमत्तैजसात्मने गाण्डीवधन्वने श्रीमदर्जुनाय करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्। इति करन्यासः।

इत्थं हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, नेत्रत्रयाय वौषट्, करतलपृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्। इति अङ्गन्यासः।

इति श्रीमद्भगवद्गीताकवचं समाप्तम्।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

*　　*　　*

प्रथमोऽध्यायः

(अर्जुनविषादयोगः)

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीता

*　　*　　*

पहला अध्याय

(अर्जुनविषादयोग)

धृतराष्ट्र बोले –

हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और
पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? १

संजय बोला –

उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह-रचना से युक्त देख राजा
दुर्योधन ने आचार्य (द्रोण) के पास जाकर (यह) वचन कहा – २

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) के द्वारा
व्यूह-रचना से युक्त की गयी पाण्डुपुत्रों की इस महान् सेना को
देखिए। ३

यहाँ युद्ध में भीम और अर्जुन के समान महाधनुर्धर तथा शूरवीर
हैं। (उनमें) युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद हैं। ४

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव* च।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

---

* 'सौमदत्तिर्जयद्रथः' इति पाठान्तरम्।

धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज, कुन्तिभोज-पुरुजित्, नरश्रेष्ठ शैब्य हैं। ५

पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), द्रौपदी के (प्रतिविन्ध्य आदि पाँच) पुत्र हैं। ये सभी महारथी हैं। ६

हे विप्रवर! हमारे (पक्ष के) भी जो प्रधान (योद्धा) हैं, उनको आप जान लें। (जो) मेरी सेना के नायक हैं, उन्हें आपकी जानकारी के लिए बताता हूँ – ७

आप, (पितामह) भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृपाचार्य, उसी प्रकार अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा)। ८

तथा मेरे लिए प्राण त्यागनेवाले और भी अनेक वीर हैं। ये सभी विविध अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित तथा युद्ध में निपुण हैं। ९

हमारा भीष्म के द्वारा संरक्षित (सैन्य)बल अपरिमित (अर्थात् युद्धजय के लिए यथेष्ट) है, किन्तु उनका भीम के द्वारा संरक्षित (सैन्य)बल परिमित (अर्थात् युद्धजय के लिए यथेष्ट नहीं) है। १०

समस्त व्यूहद्वारों पर अपने अपने विभाग के अनुसार अवस्थित रहते हुए आप सभी लोग (पितामह) भीष्म की ही सब प्रकार से रक्षा करें। ११

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्।।१८।।

कौरववंश के वयोवृद्ध पराक्रमशाली पितामह (भीष्म) ने उस (दुर्योधन) के आनन्द को वर्धित करते हुए सिंह के समान उच्च गर्जन करके शंख बजाया। १२

इसके अनन्तर शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघे (आदि बाजे) एक साथ ही बज उठे। वह ध्वनि बड़ी भयंकर हुई। १३

इसके पश्चात् श्वेत अश्वों से युक्त विशाल रथ पर अवस्थित माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने भी अपने दिव्य शंख बजाये। १४

हृषीकेश[१] (श्रीकृष्ण) ने 'पांचजन्य' और धनंजय (अर्जुन) ने 'देवदत्त' और भयंकर कर्म करनेवाले वृकोदर (भीम) ने 'पौण्ड्र' नामक महान् शंख बजाया। १५

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्तविजय', नकुल ने 'सुघोष' तथा सहदेव ने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाये। १६

महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, तथा हे पृथ्वीपते (धृतराष्ट्र)! द्रुपद, द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र तथा महावीर सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) – इन सब ने अलग अलग शंख बजाये। १७-१८

---

१. हृषीकेश (हृषीक-ईश) – इंद्रियों का स्वामी।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥२५॥

उस भयंकर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी निनादित करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया। १९

हे महीपते (धृतराष्ट्र)! तत्पश्चात् कपिध्वज (अर्थात् कपिचिह्नित ध्वजा से युक्त रथवाले) पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने धृतराष्ट्रपुत्रों को (युद्ध के लिए) खड़े देख, शस्त्र चलना आरम्भ होते समय धनुष उठाकर हृषीकेश से यह वचन कहा। २०-२१

अर्जुन बोला –

हे अच्युत! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा करो। तब तक मैं युद्ध करने की कामना से अवस्थित इन योद्धाओं को देख लूँ कि इस रणसंग्राम में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना होगा। २१-२२

दुष्टबुद्धिवाले धृतराष्ट्रपुत्र (दुर्योधन) का युद्ध में प्रिय कार्य करने के इच्छुक जो यहाँ आये हुए हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देख लूँ। २३

संजय बोला –

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! गुड़ाकेश[२] (अर्जुन) के द्वारा इस प्रकार कथित होकर हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म, द्रोण तथा समस्त राजाओं के सम्मुख उत्तम रथ को खड़ा करके कहा – 'हे पार्थ (पृथापुत्र अर्जुन)! एकत्र हुए कौरवों को देखो'। २४-२५

---

२. गुडाकेश (गुडाका-ईश) – निद्रा-आलस्य-तमोगुण को जीतनेवाला।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्*।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

* 'दृष्ट्वेमान्स्वजनान्कृष्ण युयुत्सून्समवस्थितान्' इति पाठान्तरम्।

वहाँ अर्जुन ने दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए चाचाओं, दादाओं, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों तथा सुहृदों को देखा। २६

इस प्रकार स्थित उन सब बन्धुओं को देखकर वह अत्यन्त कृपा से अभिभूत हुआ कौन्तेय (कुन्तीपुत्र अर्जुन) शोक करता हुआ यह बोला - २७

अर्जुन बोला -

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े हुए इन स्वजनों को देखकर मेरे सारे अंग अवसन्न हो रहे है, तथा मुख भी सूख रहा है; मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है। २८-२९

हाथ से गाण्डीव (धनुष) गिर रहा है और त्वचा जल रही है। मैं खड़ा नहीं रह पा रहा हूँ; मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। ३०

हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ। तथा युद्ध में स्वजनों को मारने में कल्याण भी नहीं देखता। ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्*।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

---

* 'सबान्धवान्' इति पाठान्तरम्।

हे कृष्ण! (मै युद्ध में) विजय नहीं चाहता और न राज्य या सुखभोग ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या (प्रयोजन है)? विषयभोगों से या जीवन से भी क्या (प्रयोजन है)? ३२

जिन लोगों के लिए हमें राज्य, भोग और सुख आदि आकांक्षित है, वे ये आचार्य, ताऊ, चाचा, लड़के, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा सम्बन्धी धन तथा प्राणों (की आशा) को छोड़कर युद्ध में खड़े हुए हैं। ३३-३४

हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी, मैं इन लोगों की हत्या नहीं करना चाहता, फिर (केवल इस) पृथ्वी के लिए (तो कहना ही) क्या है? ३५

हे जनार्दन! (भला) धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हम लोगों को क्या प्रसन्नता होगी? बल्कि इन आततायियों[३] को मारने पर तो हमें पाप ही लगेगा। ३६

इसलिए अपने बान्धव धृतराष्ट्रपुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि हे माधव! अपने ही लोगों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ३७

---

३. आततायी छह प्रकार के होते हैं – घर में आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर आक्रमण करनेवाला, धन चुरानेवाला, तथा भूमि और पत्नी को चुरानेवाला।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये (धृतराष्ट्रपुत्र) कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दोष को तथा मित्रों के साथ द्रोह करने में पाप को नहीं देखते – ३८

(तो भी) हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दोषों को देखते हुए भी हम लोगों को इस पाप से निवृत्त होने के लिए क्यों नहीं सोचना चाहिए? ३९

कुल के नाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और कुलधर्म के नष्ट हो जाने पर अधर्म (या पाप) सम्पूर्ण कुल को दबोच लेता है। ४०

हे कृष्ण! (कुल में) अधर्म (या पाप) की वृद्धि होने से कुल की स्त्रियाँ बड़ी दूषित हो जाती हैं। और हे वार्ष्णेय (वृष्णिवंशीय कृष्ण)! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर[४] उत्पन्न होता है। ४१

वर्णसंकर कुलनाशकों के और कुल के नरक (में जाने) के लिए ही होता है, क्योंकि जिनकी पिण्डोदक-क्रिया (अर्थात् श्राद्ध-तर्पण आदि क्रिया) लुप्त हो गयी है ऐसे इनके पितर लोग गिर जाते हैं। ४२

इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलनाशकों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं। ४३

---

४. वर्णसंकर – वर्णों में मिश्रण। विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के संयोग से उत्पन्न सन्तान।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

हे जर्नादन! जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है ऐसे मनुष्यों का निश्चित रूप से नरक में वास होता है – ऐसा हमने सुना है। ४४

हाय! कैसा दुर्दैव है कि हम लोग महान् पाप करने को तुले हुए हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने ही लोगों को मारने के लिए उद्यत हुए हैं। ४५

यदि हाथ में शस्त्र लिये धृतराष्ट्रपुत्र मुझ शस्त्ररहित तथा प्रतीकार न करनेवाले को युद्ध में मार डालें तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा। ४६

संजय बोला –

इस प्रकार कहकर शोक से उद्विग्न चित्तवाला अर्जुन युद्धभूमि में बाणसहित धनुष को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। ४७

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्
में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

(सांख्ययोगः)

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

दूसरा अध्याय

(सांख्ययोग)

संजय बोला –

इस प्रकार करुणा से व्याप्त, आँसूभरे व्याकुल नेत्रोंवाले उस शोकमग्न (अर्जुन) से मधुसूदन ने यह वचन कहा। १

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! आर्यो द्वारा असेवित, स्वर्गप्राप्ति का विरोधी और अपकीर्ति करनेवाला यह मोह तुझे इस विषम परिस्थिति में कहाँ से प्राप्त हुआ? २

हे पार्थ! तू कायरता को प्राप्त न हो। यह तुझमें योग्य नहीं है। परन्तप (अर्थात् शत्रुओं को तपानेवाले)! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो। ३

अर्जुन बोला –

हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में (पितामह) भीष्म और (आचार्य) द्रोण के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँगा? हे अरिसूदन (अर्थात् शत्रुनाशक)! ये (दोनों ही) पूजनीय हैं। ४

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

ऐसे महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस संसार में भिक्षान्न भोजन करना भी कल्याणकर है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी आखिर इस संसार में मैं रक्त से सने हुए अर्थ – और काम-रूपी भोगों को ही तो भोगूँगा। ५

फिर हम यह भी तो नहीं जानते कि हमारे लिए श्रेयस्कर क्या है – हम जीतें या वे हमें जीत लें। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रपुत्र सामने खड़े हैं। ६

कायरता के दोष से जिसका स्वभाव ढक गया है और धर्म के विषय में जिसका चित्त मोहग्रस्त हो गया है, वह मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चित कल्याणकर बात हो वह मुझे बताओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। अपनी शरण में आये हुए मुझको तुम उपदेश दो। ७

क्योंकि पृथ्वी पर निष्कंटक समृद्ध राज्य को तथा देवताओं के स्वामित्व को पाकर भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता जो कि मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले इस शोक को दूर कर सके। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप*।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

* 'परन्तपः' इति पाठान्तरम्।

संजय बोला –

हे शत्रुतापन (धृतराष्ट्र)! हृषीकेश गोविन्द से ऐसा कहने के अनन्तर गुड़ाकेश 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर मौन हो गया। ९

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! (तब) दोनों सेनाओं के बीच में विषादमग्न हुए उस (अर्जुन) से हृषीकेश ने मानो हँसते हुए यह वचन कहा। १०

श्रीभगवान् बोले –

तू शोक न करने योग्य लोगों के लिए शोक कर रहा है और पण्डितों के जैसे वचन कह रहा है। ज्ञानीजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते। ११

वास्तव में ऐसा नहीं है कि किसी समय मैं नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे, और न ऐसा ही है कि इसके आगे हम सब लोग नहीं रहेंगे। १२

किन्तु जिस प्रकार देही (अर्थात् आत्मा) की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, उसी प्रकार अन्य शरीर की प्राप्ति भी (एक अवस्था ही) है। इस विषय में धीर (अर्थात् ज्ञानी) मोह को प्राप्त नहीं होता। १३

हे कौन्तेय! इन्द्रियों और विषयों के संयोग शीत-उष्ण और सुखः-दुःख के देनेवाले हैं। वे आते हैं और नष्ट हो जाते हैं, इसलिए अनित्य हैं। हे भरतवंशी (अर्जुन)! उन्हें तू सहन कर। १४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान माननेवाले जिस धीर पुरुष को ये (इन्द्रियों के विषय) व्याकुल नहीं कर पाते वह अमृतत्व (अर्थात् मोक्ष) का अधिकारी होता है। १५

असत् वस्तु का (कभी) अस्तित्व नहीं होता और सत् वस्तु का (कभी) अभाव नहीं होता। इन दोनों का ही स्वरूष तत्त्वदर्शियों (अर्थात् ज्ञानियों) के द्वारा देखा गया है। १६

जिसके द्वारा यह समस्त (संसार) व्याप्त है, उसी को तू अविनाशी जान। इस अव्यय (आत्मा) का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। १७

इस नाशरहित, अप्रमेय (अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अगोचर), नित्यस्वरूप शरीरी (अर्थात् आत्मा) के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिए हे भरतवंशी! तू युद्ध कर। १८

जो इस (आत्मा) को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा समझता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं, क्योंकि यह न तो मरता है और न मारा जाता है। १९

यह (आत्मा) न कभी जन्मता है और न कभी मरता ही है; अथवा (ऐसा भी नहीं है कि) यह एक बार होकर फिर नहीं होता। यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत तथा सनातन है; शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता। २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं* शोचितुमर्हसि।।२६।।

---

* 'नैनं' इति पाठान्तरम्।

हे पार्थ! जो व्यक्ति इस (आत्मा) को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवाए और कैसे किसको मारे? २१

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही जीर्ण शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। २२

इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको अग्नि नहीं जला सकती, इसको जल गीला नहीं कर सकता तथा वायु नहीं सुखा सकती। २३

(निरवयव होने के कारण) यह (आत्मा) कटनेवाला नहीं है, यह जलनेवाला नहीं है, गलनेवाला नहीं है और सूखनेवाला नहीं है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, निश्चल और सनातन है। २४

कहा जाता है कि यह (आत्मा) प्रकट नहीं किया जा सकता है, इसका विचार नहीं किया जा सकता है और यह विकार को प्राप्त नहीं होता है। अतः इस (आत्मा) को इस प्रकार जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

और यदि तू इस (आत्मा) को सदा जन्मनेवाला और सदा मरनेवाला माने, तो भी, हे महाबाहो (अर्थात् वीर)! तुझे इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए। २६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म निश्चित है। इसलिए ऐसे अनिवार्य विषय में तुझे शोक नहीं करना चाहिए। २७

हे भरतवंशी! समस्त प्राणी जन्म से पहले अप्रकट रहते हैं, बीच में (अर्थात् स्थितिकाल में) प्रकट होते हैं, और मरने के बाद (पुनः) अप्रकट हो जाते हैं। फिर इसमें चिन्ता (अर्थात् शोक करने की बात) क्या है? २८

कोई इस (आत्मा) को आश्चर्य की तरह देखता है, वैसे ही दूसरा कोई इसे आश्चर्य की तरह बताता है, अन्य कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, फिर कोई सुनकर भी इसे नहीं जानता। २९

हे भरतवंशी! सब के शरीर में स्थित यह देही सदा ही अवध्य है; इसलिए तुझे किसी भी प्राणी के लिए शोक करना नहीं चाहिए। ३०

अपने धर्म को देखकर भी तुझे विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है। ३१

हे पार्थ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गद्वार की तरह इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रियगण ही पाते हैं। ३२

और यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्ति को त्यागकर पाप को प्राप्त होगा। ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

फिर (सब) प्राणी तेरी स्थायी रहनेवाली अपकीर्ति को कहते रहेंगे। और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक (कष्टदायक) होती है। ३४

महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। जिन लोगों में तू बहुत माननीय था, उन्हीं लोगों के सामने अब तू तुच्छता को प्राप्त हो जाएगा। ३५

तेरे शत्रु लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए न कहने योग्य अनेक बातें कहेंगे। फिर उससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी? ३६

तू (यदि युद्ध में) मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। अतः हे कौन्तेय! युद्ध के लिए दृढ़निश्चय होकर उठ खड़ा हो। ३७

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर फिर तू युद्ध के लिए तैयार हो जा। इस प्रकार (युद्ध करने से) तू पाप को प्राप्त नहीं होगा। ३८

हे पार्थ! यह (सम)बुद्धि तुझे सांख्य (अर्थात् ज्ञानयोग) के विषय में कही गयी, अब तू इसे कर्मयोग के विषय में सुन – जिस समबुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म के बन्धन को अच्छी तरह नष्ट कर डालेगा। ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

इस (कर्मयोग) में आरम्भ (किये हुए कर्म) का नाश नहीं है और प्रत्यवाय (अर्थात् कर्म न करने से होनेवाला विपरीत फलरूप दोष) भी नहीं है। इस (कर्मयोगरूप) धर्म का थोड़ा भी आचरण (जन्ममरणरूप) महान् भय से रक्षा करता है। ४०

हे कुरुवंशी! इस (कर्मयोग) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अनिश्चयी मनुष्यों की बुद्धियाँ अनेक भेदोंवाली और अनन्त प्रकार की होती हैं। ४१

हे पार्थ! (काम्यकर्म-सम्बन्धी) वेदवाक्यों में प्रीति रखनेवाले, '(स्वर्गप्रद कर्मों के अतिरिक्त) और कुछ नहीं है' ऐसा कहनेवाले, कामना-परायण, स्वर्ग को ही परम (प्राप्यवस्तु) माननेवाले, अविवेकी लोग जन्मरूप कर्मफल को देनेवाली तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की क्रियाओं को बतलानेवाली, इस प्रकार की जिस पुष्पित (अर्थात् रमणीय प्रतीत होनेवाली) वाणी को कहा करते हैं – ४२-४३

उस (वाणी) के द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है तथा जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, ऐसे लोगों के अन्तःकरण में (आत्मज्ञानविषयक) निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं ठहर पाती। ४४

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

हे अर्जुन! (सब) वेद तीन गुणों को विषय करनेवाले (अर्थात् त्रिगुणात्मक संसार का ही प्रतिपादन करनेवाले) है। तू इन तीनों गुणों से अतीत (अर्थात् असंसारी) हो जा; (सुख-दु:खादि) द्वन्द्वों से रहित, नित्यवस्तु में रहनेवाला, योगक्षेमरहित (अर्थात् अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति और प्राप्तवस्तु की रक्षा के लिए प्रयत्न न करनेवाला) एवं आत्मवान् (अर्थात् प्रमादरहित) हो जा। ४५

सब ओर से धरती के जलमग्न होने पर छोटे छोटे जलाशयों में (मनुष्य का) जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी तरह ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का सारे वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है। (अर्थात् जिस प्रकार बड़े जलाशय के प्राप्त हो जाने पर जल के लिए छोटे जलाशयों की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर आनन्द के लिए वेदों की आवश्यकता नहीं रह जाती।) ४६

कर्म में ही तेरा अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं; (अत:) तू कर्मफल का हेतु (अर्थात् कर्मफल की इच्छा रखनेवाला) मत हो, तथा कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो। ४७

हे धनंजय! तू योग में स्थित रहता हुआ, आसक्ति का त्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्मों को कर। यह समत्वभाव ही योग कहलाता है। ४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

चूँकि बुद्धियोग की अपेक्षा (अर्थात् समत्वबुद्धि से युक्त होकर किये जानेवाले कर्म की अपेक्षा) (सकाम) कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, इसलिए हे धनंजय! तू (समत्व) बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर। फल के हेतु बननेवाले (अर्थात् फल के उद्देश्य से कर्म करनेवाले) अत्यन्त दयनीय होते हैं। ४९

(समत्व) बुद्धि से युक्त (मनुष्य) इसी लोक में पाप और पुण्य दोनों को त्याग देता है (अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है)। इसलिए तू (समत्वबुद्धिरूप) योग के लिए ही प्रयत्न कर। यह (समत्वबुद्धिरूप) योग ही कर्मों में कुशलता है (अर्थात् कर्मों के बन्धन से छूटने का उपाय है)। ५०

क्योंकि (समत्व) बुद्धियुक्त ज्ञानीगण कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो विकाररहित पद (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त हो जाते हैं। ५१

जब तेरी बुद्धि मोहरूप पंक को पार कर जाएगी, उस समय तू सुनने योग्य और सुने हुए सभी विषयों के प्रति वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा (अर्थात् वे विषय तुझे निरर्थक प्रतीत होंगे)। ५२

(अनेक प्रकार की फल-)श्रुतियों (को सुनने) से विक्षिप्त हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में निश्चल और स्थिर होकर ठहर जाएगी, तब तू (समत्वरूप) योग को प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अर्जुन बोला –

हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ (अर्थात् स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य) का क्या लक्षण है? स्थिरबुद्धि मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता (अर्थात् रहता) है और कैसे चलता है? ५४

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ! जब (मनुष्य) मन में विद्यमान रहनेवाली सभी कामनाओं को त्याग देता है तथा अपने-आप से अपने-आप में ही सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

दु:खों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जो स्पृहारहित है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। ५६

जो व्यक्ति सर्वत्र (अर्थात् सभी विषयों में) आसक्तिरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ (वस्तु) को प्राप्त करके न आनन्दित होता है और न द्वेष ही करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों को इन्द्रियों के (रूप, रस आदि) विषयों से सब तरह से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित (अर्थात् स्थिर) हो जाती है। ५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

निराहारी (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण न करनेवाले) पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु रस को छोड़कर (अर्थात् विषयों में रसबुद्धि या तृष्णा निवृत्त नहीं होती)। (किन्तु) इस (स्थितप्रज्ञ पुरुष) का यह रस (अर्थात् तृष्णा) भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है। ५९

क्योंकि हे कौन्तेय! ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ प्रयत्नशील विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं (अर्थात् विषयासक्त कर देती है)। ६०

इसलिए (साधक) उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके, समाहितचित्त तथा मेरे परायण होकर स्थित रहे। क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित (अर्थात् स्थिर) होती है। ६१

विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन (विषयों) में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है; आसक्ति से कामना पैदा होती है; कामना (में विघ्न आने) से क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

क्रोध से सम्मोह (अर्थात् मूढ़भाव) उत्पन्न होता है, सम्मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति भ्रष्ट हो जाने से (विवेक) बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट हो जाने पर (मनुष्य) नष्ट हो जाता है (अर्थात् पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है)। ६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

परन्तु आसक्ति और द्वेष से रहित अपने वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता हुआ संयतचित्त पुरुष अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। ६४

अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त होने पर इस (पुरुष) के सभी दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्नचित्तवाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही (परमात्मा में) स्थित हो जाती है। ६५

अयुक्त (अर्थात् न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले) व्यक्ति में (आत्मविषयक) बुद्धि नहीं होती; उस अयुक्त व्यक्ति में (आत्मविषयक) भावना भी नहीं होती; (आत्म) भावना से रहित व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, और अशान्तचित्त व्यक्ति को सुख कैसे मिल सकता है? ६६

क्योंकि (अपने अपने विषयों में) विचरनेवाली इन्द्रियों में से मन जिस (किसी भी इन्द्रिय) का अनुसरण करता है, वह (एक ही इन्द्रिय) इस (अयुक्त पुरुष) की बुद्धि को वैसे ही हर लेती है जैसे वायु जल में चलनेवाली नाव को। ६७

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार वश में की हुई होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है। ६८

समस्त प्राणियों के लिए जो (अवस्था) रात्रि (अर्थात् अन्धकारस्वरूप) है, उसमें संयमी पुरुष जागता है; और जिस (अवस्था) में सब प्राणी जागते हैं, (आत्मा को) देखनेवाले मुनि के लिए वह रात्रि (अर्थात् अन्धकारस्वरूप) है। ६९

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

जिस प्रकार सब ओर से (जल से) पूर्ण होते रहनेवाले स्थिर रूप से अवस्थित समुद्र में (विविध नद-नदियों के) जल (उसे विचलित न करते हुए) प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस (स्थितप्रज्ञ पुरुष) में सब काम्यविषय (किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न करते हुए ही) प्रविष्ट हो जाते हैं, वही (परम) शान्ति को प्राप्त होता है – भोगों की कामना करनेवाला नहीं। ७०

जो पुरुष समस्त कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित तथा स्पृहारहित होकर विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है। ७१

हे पार्थ! यही ब्राह्मी स्थिति (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति) है। इस (अवस्था) को प्राप्त होकर (मनुष्य) कभी मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस (अवस्था) में प्रतिष्ठित होकर वह ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की शान्ति) को प्राप्त हो जाता है। ७२

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्
में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

(कर्मयोगः)

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

व्यामिश्रेणेव* वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

---

* 'व्यामिश्रेणैव' इति पाठान्तरम्।

तीसरा अध्याय

(कर्मयोग)

अर्जुन बोला –

हे जनार्दन! यदि तुम कर्म की अपेक्षा बुद्धि (अर्थात् ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हो, तो फिर हे केशव! मुझे ऐसे भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हो? १

(तुम अपने) मिले हुए-से (सन्दिग्ध) वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित-सा कर रहे हो। वह एक बात निश्चित करके बताओ, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। २

श्रीभगवान् बोले –

हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही कही गयी है। ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों (अर्थात् ज्ञानयोगियों) की और कर्मयोग के द्वारा (कर्म)योगियों की (निष्ठा कही गयी है)। ३

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मभाव (अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्ति) को प्राप्त होता है, और न केवल कर्मों के त्याग मात्र से ही सिद्धि (अर्थात् निष्कर्मभाव) को प्राप्त होता है। ४

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

कोई भी (मनुष्य) कभी क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रहता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश हुए सभी (प्राणी) कर्म करने में लगाये जाते हैं। ५

जो (मनुष्य) कर्मेन्द्रियों[१] को (ऊपर से) रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मूढ़बुद्धिवाला (मनुष्य) मिथ्याचारी कहलाता है। ६

किन्तु अर्जुन! जो (मनुष्य) मन से (सम्पूर्ण) इन्द्रियों को रोककर अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों[१] द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। ७

तू नियत कर्म (अर्थात् शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म) कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। फिर कर्म न करने से तेरा शरीरनिर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा। ८

यज्ञ (अर्थात् ईश्वर) के लिए किये जानेवाले कर्मों के अतिरिक्त (अन्य कर्मों से) यह मनुष्य कर्मबन्धन को प्राप्त होता है। इसलिए हे कौन्तेय! तू आसक्ति से रहित होकर उस (यज्ञ) के लिए ही भलीभाँति कर्म कर। ९

(सृष्टि के) प्रारम्भ में प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ के साथ प्रजाओं की रचना करके (उनसे) कहा कि तुम लोग इस (यज्ञ) के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ; यह (यज्ञ) तुम लोगों को इच्छित भोग देनेवाला हो। १०

---

१. यहाँ पर कर्मेन्द्रियों का तात्पर्य दसों इन्द्रियों से है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

इस (यज्ञ) के द्वारा तुम लोग देवताओं को बढ़ाओ (अर्थात् उन्नत करो) और वे देवता भी (वृष्टि आदि के द्वारा) तुम लोगों को बढ़ाएँ (अर्थात् उन्नत करें)। (इस प्रकार) एक दूसरे को बढ़ाते हुए (अर्थात् उन्नत करते हुए) तुम लोग परम कल्याण को ही प्राप्त होओगे। ११

यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए (अर्थात् पुष्ट हुए) देवता तुम लोगों को इच्छित भोग देंगे ही। उन देवताओं द्वारा दिये भोगों को जो (मनुष्य) उन्हें दिये बिना भोगता है, वह चोर ही है। १२

यज्ञ के अवशिष्ट (प्रसादरूप अन्न) को खानेवाले सज्जन समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं, वे पापी लोग पाप को ही खाते हैं। १३

अन्न से (सम्पूर्ण) प्राणी उत्पन्न होते हैं; अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है; वर्षा यज्ञ से होती है; और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। १४

कर्मों को तू ब्रह्म (अर्थात् वेद) से उत्पन्न हुआ जान। ब्रह्म (अर्थात् वेद) अक्षर (अर्थात् अविनाशी परब्रह्म) से उत्पन्न है। इसलिए सर्वव्यापी (पर)ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। १५

हे पार्थ! जो इस लोक में इस प्रकार प्रचलित (सृष्टि)चक्र का अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् तदनुसार नहीं चलता), वह इन्द्रियसुखों में रमण करनेवाला पापायु (अर्थात् पापमय जीवन बितानेवाला पुरुष) व्यर्थ ही जीता है। १६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

किन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रमण करनेवाला, और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। १७

उस (पुरुष) का इस संसार में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन होता है, और न कर्म न करने से ही कोई (प्रयोजन) होता है। तथा इसका समस्त प्राणियों में (अर्थात् किसी भी प्राणी के साथ) कुछ भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं होता। १८

इसलिए तू आसक्तिरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म को भलीभाँति करता रह, क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म का आचरण करता हुआ मनुष्य परमपद को प्राप्त हो जाता है। १९

(राजा) जनक आदि कर्म के द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे। (इसलिए तथा) लोकसंग्रह[२] की ओर देखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है। २०

श्रेष्ठ (पुरुष) जो जो आचरण करता है, अन्य मनुष्य भी वैसा वैसा ही (आचरण करते हैं)। वह जिसे (श्रेष्ठ कहकर) प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार बरतने लगते हैं। २१

---

२. लोकसंग्रह का अर्थ है – लोगों को कुमार्ग की ओर जाने से निवृत्त करना तथा सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं[1] जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि[2] विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

---

१. 'वर्तेय' इति पाठान्तरम्।
२. 'योजयेत्' इति पाठान्तरम्।

हे पार्थ! तीनों लोकों में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है। तो भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूँ। २२

क्योंकि हे पार्थ! यदि मैं कभी आलस्यरहित होकर कर्म में प्रवृत्त न होऊँ, तो मनुष्य मेरे ही मार्ग का सब प्रकार से अनुसरण करेंगे। २३

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जाएँ, मैं वर्णसंकरता का कर्ता होऊँ और इन प्रजाओं को नष्ट करनेवाला बनूँ। २४

हे भरतवंशी! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार (कर्म) करते हैं, ज्ञानी अनासक्त रहकर लोककल्याण साधने की इच्छा से उसी प्रकार कर्म करे। २५

ज्ञानी कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानिजनों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करे; (बल्कि) स्वयं सावधान होकर समस्त कर्मों का भलीभाँति आचरण करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाए। २६

(वास्तव में समस्त) कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं; फिर भी जिसका चित्त अहंकार से विमूढ़ हो रहा है वह व्यक्ति समझता है कि मैं ही कर्ता हूँ। २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

किन्तु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी पुरुष) यह समझकर कि 'गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' (अर्थात् तीन गुणों से उत्पन्न अन्तःकरणसहित इन्द्रियाँ इन्हीं गुणों से उत्पन्न विषयों में बरत रही हैं), उनमें आसक्त नहीं होता।[३] २८

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं। उन मन्दबुद्धिवाले अल्पज्ञ मनुष्यों को पूर्णतया जाननेवाला (ज्ञानी) विचलित न करे। २९

समस्त कर्मों को अध्यात्मचित्तद्वारा (अर्थात् आत्मस्वरूप में लगे हुए चित्त द्वारा) मुझमें अर्पित करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त तथा दोषदृष्टि से रहित होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते है, वे भी (समस्त) कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। ३१

किन्तु जो दोषदृष्टि से युक्त होकर मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते, उन मूर्खों को तू समस्त ज्ञानों में मूढ़ और विनष्ट हुए ही समझ। ३२

---

३. गुणविभाग यानी 'मैं आत्मा हूँ – गुणनिर्मित देहेन्द्रियसंघात नहीं हूँ' इस प्रकार गुणों से आत्मा का विभाग। कर्मविभाग यानी 'कर्म मेरे नहीं हैं – वे देहेन्द्रियसंघात के धर्म हैं' इस प्रकार कर्मों से आत्मा का विभाग। गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जानना यानी आत्मा को गुणों और कर्मों से पृथक् जानना।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

ज्ञानवान् (व्यक्ति) भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है। (सभी) प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् अपने स्वभाव का ही अनुसरण करते हैं)। (ऐसी स्थिति में) किसी का हठ (या शासन) क्या करेगा? ३३

प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष स्थित है। इन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए; क्योंकि वे ही इस (जीव) के परिपन्थी हैं (अर्थात् कल्याणमार्ग में विघ्न करनेवाले शत्रु हैं)। ३४

उत्तम रीति से अनुष्ठान किये गये परधर्म की अपेक्षा अपना धर्म गुणरहित होने पर भी अधिक श्रेष्ठ है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारी है पर दूसरे का धर्म भयकारक है। ३५

अर्जुन बोला –

हे वृष्णिवंशीय! तो फिर किसके द्वारा प्रेरित होकर यह मनुष्य (स्वयं) न चाहता हुआ भी बलपूर्वक लगाये हुए की तरह पाप का आचरण करता है? ३६

श्रीभगवान् बोले –

रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला (अर्थात् भोगों से कभी तृप्त न होनेवाला) और महापापी है। इसको तू इस संसार में वैरी जान। ३७

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि ढकी रहती है और मैल से दर्पण (ढका रहता है), तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इस (काम) के द्वारा यह (विवेकज्ञान) ढका रहता है। ३८

हे कौन्तेय! ज्ञानियों के नित्यवैरी इस कभी तृप्त न होनेवाली कामरूपी अग्नि के द्वारा (मनुष्य का) ज्ञान ढका रहता है। ३९

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) के आश्रयस्थान कहे गये हैं। इन्हीं के द्वारा ज्ञान को आच्छादित करके यह (काम) जीव को मोहित कर डालता है। ४०

इसलिए हे भरतवंशश्रेष्ठ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले पापी (काम) का परित्याग कर। ४१

(पण्डितगण) इन्द्रियों को (स्थूल शरीर) से श्रेष्ठ कहते है; इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी परे है, वही वह (आत्मा) है। ४२

इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ (आत्मा) को जानकर, और आत्मा से ही आत्मा का स्तम्भन करके (अर्थात् शुद्ध बुद्धि द्वारा मन को वश में करके) हे महाबाहो! तू इस कामरूपी दुर्जय शत्रु को जीत ले। ४३

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्
में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

(ज्ञानयोगः)

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

चौथा अध्याय

(ज्ञानयोग)

श्रीभगवान् बोले –

मैंने इस अक्षय योग को पहले सूर्य से कहा था। सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु से कहा और फिर मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा। १

हे परन्तप! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। (परन्तु अब) वह योग दीर्घ काल से इस लोक में नष्ट हो गया है। २

तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझे बताया; क्योंकि यह उत्तम रहस्य है (अर्थात् अत्यन्त गुप्त रखने योग्य तत्त्व है)। ३

अर्जुन बोला –

आपका जन्म तो अभी का है और सूर्य का जन्म बहुत पहले का है, अतः आपने (सृष्टि के) आदि में (सूर्य से यह योग) कहा था – यह मैं कैसे जानूँ? ४

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

श्रीभगवान् बोले –

हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। ५

मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी (योग)माया के द्वारा प्रकट होता हूँ। ६

हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं का सृजन करता हूँ (अर्थात् शरीरधारण करके प्रकट होता हूँ)। ७

साधुओं की रक्षा करने के लिए, पापकर्म करनेवालों का नाश करने के लिए और धर्म की भलीभाँति स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ। ८

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं – इस प्रकार जो (मनुष्य) तत्त्व से (यथार्थत:) जान लेता है, वह शरीर को त्यागने पर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, (प्रत्युत) मुझे प्राप्त होता है। ९

आसक्ति, भय और क्रोध से रहित हुए, मुझसे एकरूप हुए तथा मेरा आश्रय लिये हुए बहुतसे (मनुष्य) ज्ञान(रूप)-तप से पवित्र होकर मेरे भाव (अर्थात् स्वरूप) को प्राप्त हो चुके हैं। १०

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

हे पार्थ! जो लोग जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ (अर्थात् उन पर उसी प्रकार अनुग्रह करता हूँ), क्योंकि (सभी) मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। ११

इस (मनुष्य)लोक में कर्मों की सिद्धि (अर्थात् फलप्राप्ति) चाहनेवाले लोग देवताओं को पुजते है, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मजनित सिद्धि शीघ्र (प्राप्त) हो जाती है। १२

मेरे द्वारा गुणों और कर्मों के विभागानुसार (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये) चार वर्ण रचित हुए हैं। (इस प्रकार मैं) उस (सृष्टिरचनाकर्म) का कर्ता होने पर भी मुझ अव्यय (परमेश्वर) को तू (वास्तव में) अकर्ता ही जान। १३

मुझे कर्म लिप्त नहीं करते; (क्योंकि) कर्मों के फल में मेरी तृष्णा नहीं है – इस प्रकार जो मुझे जान लेता है, वह भी कर्मों के द्वारा बद्ध नहीं होता। १४

पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं इसलिए तू भी पूर्वजों के द्वारा पूर्वकाल में किये जानेवाले कर्मों को ही कर। १५

कर्म क्या है और अकर्म क्या है – यहाँ (अर्थात् इस विषय में) विद्वान् भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए वह कर्म(तत्त्व) मैं तुझे बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से (अर्थात् संसारबन्धन से) मुक्त हो जाएगा। १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।२०।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

कर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए, विकर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए तथा अकर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए, (क्योंकि) कर्म की गति गहन है। १७

जो कर्म में अकर्म देखता है तथा जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है और समस्त कर्मों को करनेवाला है। १८

जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित होते हैं, तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा जल चुके हैं, उसे ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। १९

वह कर्मों में और उनके फलों में आसक्ति का त्याग करके तथा (परमात्मा में) नित्यतृप्त और (संसार के) आश्रय से रहित होकर कर्मों में भलीभाँति लगा हुआ भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता। २०

जो आशारहित है, जिसने अन्तःकरण और शरीर को वश में कर लिया है, और जिसने समस्त परिग्रह (अर्थात् भोग की सामग्री का संग्रह) त्याग दिया है, ऐसा व्यक्ति केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ पापों को प्राप्त नहीं होता। २१

बिना माँगे अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सन्तुष्ट रहनेवाला, (शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सिद्धि और असिद्धि में सम रहनेवाला व्यक्ति कर्म करता हुआ भी (उनसे) आबद्ध नहीं होता। २२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

जिसकी आसक्ति नष्ट हो गयी है, जो (बन्धनों से) मुक्त हो गया है, जिसका चित्त (निरन्तर) ज्ञान में ही अवस्थित रहता है, ऐसे (केवल) यज्ञ के लिए कर्म करनेवाले व्यक्ति के समस्त कर्म पूर्णतया विलीन हो जाते है। २३

अर्पण (अर्थात् जिसके द्वारा अग्नि में आहुति दी जाती है वह स्रुक्, स्रुवा आदि साधन) ब्रह्म है, हवि (अर्थात् जिसकी आहुति दी जाती है वह धृत आदि द्रव्य) भी ब्रह्म है, तथा ब्रह्म(रूप) – अग्नि में ब्रह्म(रूप हवनकर्ता) के द्वारा (की जानेवाली) हवनक्रिया (भी ब्रह्म है), – उस ब्रह्मरूप कर्म में स्थित हुए (योगी) के द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है। २४

दूसरे योगीगण दैव यज्ञ (अर्थात् देवताओं के पूजनरूप यज्ञ) का ही अनुष्ठान किया करते हैं। अन्य (योगीगण) ब्रह्मरूप अग्नि में (ब्रह्मात्मैक्यदर्शनरूप) यज्ञ के द्वारा ही (जीवात्मारूप) यज्ञ का हवन करते है।[१] २५

दूसरे (योगीगण) कर्ण आदि (समस्त) इन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। अन्य (योगीगण) शब्द आदि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। २६

---

१. यज्ञ के द्वारा ब्रह्माग्नि में यज्ञ का हवन करना अर्थात् परब्रह्म और जीवात्मा के एकत्व के ज्ञानद्वारा परब्रह्म में जीवात्मा को विलीन कर देना।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो[१] यज्ञक्षपितकल्मषाः[२]।।३०।।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

---

१. 'यज्ञविज्ञो' इति पाठान्तरम्।
२. 'यज्ञक्षयितकल्मषाः' इति पाठान्तरम्।

दूसरे (योगीगण) समस्त इन्द्रियों की क्रियाओं की और प्राणों की क्रियाओं की, ज्ञान के द्वारा प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं। २७

दूसरे (कितने ही) द्रव्य (दान)रूप यज्ञ करनेवाले, तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले, योगरूप यज्ञ करनेवाले तथा स्वाध्यायरूप (अर्थात् वेदाभ्यासरूप) और (शास्त्रार्थ)ज्ञानरूप यज्ञ करनेवाले तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यति (अर्थात् प्रयत्नशील पुरुष) हैं। २८

(कई पुरुष) अपानवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं और दूसरे (कई) प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं। (अन्य कई) प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के परायण हो जाते हैं। २९

दूसरे नियमित भोजन करते हुए प्राणों का प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सभी (पुरुष) यज्ञों को जाननेवाले तथा यज्ञों द्वारा पापों को नष्ट कर देनेवाले हैं। ३०

यज्ञ से बचे हुए अमृत(रूप अन्न) का भोजन करनेवाले सनातन (पर)ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञरहित (मनुष्य) के लिए तो यह लोक भी नहीं है, फिर परलोक कैसे हो? ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

इसी तरह और भी अनेक प्रकार के यज्ञ ब्रह्म के मुख में (अर्थात् वेद की वाणी में) विस्तृत (रूप से कहे गये) है। उन सब को तू कर्मजन्य (अर्थात् कर्मों द्वारा सम्पन्न होनेवाले) जान। इस प्रकार जानकर तू (संसारबन्धन से) मुक्त हो जाएगा। ३२

हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। (क्योंकि) हे पार्थ! निःशेष समस्त कर्म (मोक्षसाधनरूप) ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। ३३

उस (ज्ञान) को तू (तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के समीप जाकर) जान। (उन्हें) प्रणाम करने से, प्रश्न करने से तथा (उनकी) सेवा करने से वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी (पुरुष) तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे। ३४

हे पाण्डव! जिसे जानकर तू फिर से इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा, तथा जिसके द्वारा तू (समस्त) प्राणियों को निःशेष रूप से पहले अपने (अन्तरात्मा) में और फिर मुझ (परमात्मा) में देखेगा। ३५

यदि तू समस्त पापियों से अधिक पाप करनेवाला भी है, तो भी (इस) ज्ञानरूप नाव के द्वारा ही तू सम्पूर्ण पाप(समुद्र) से भलीभाँति तर जाएगा। ३६

(क्योंकि) हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईधनों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्मों को भस्मीभूत कर डालती है। ३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला (दूसरा कुछ भी) नहीं है। उस (ज्ञान) को (कर्म)योग द्वारा सिद्ध (अर्थात् शुद्धान्त:करण) हुआ (मनुष्य) समय आने पर अपने आप ही अपने (अन्त:करण) में प्राप्त कर लेता है। ३८

श्रद्धावान्, तत्पर (अर्थात् साधनपरायण) एवं जितेन्द्रिय (मनुष्य) ज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञान प्राप्त करके वह शीघ्र ही (मोक्षरूप) परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है। ३९

अज्ञानी, श्रद्धारहित तथा संशयात्मा (व्यक्ति) विनाश को प्राप्त होता है। ऐसे संशयात्मा (व्यक्ति) के लिए न तो यह लोक है, न परलोक है, और न सुख ही है। ४०

हे धनंजय! योग के द्वारा जिसके समस्त कर्मों का त्याग हो गया है और ज्ञान के द्वारा जिसके समस्त संशय छिन्न हो गये हैं, ऐसे आत्मवान् (अर्थात् संयतचित व्यक्ति) को कर्म नहीं बाँधते। ४१

इसलिए हे भरतवंशी! तू हृदय में स्थित अपने इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा काटकर (कर्म)योग में स्थित हो जा और (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो जा। ४२

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्
में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
ज्ञानयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चमोऽध्यायः

(संन्यासयोगः)

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥

पाँचवाँ अध्याय

(संन्यासयोग)

अर्जुन बोला –

कृष्ण! तुम कर्मों के संन्यास (अर्थात् सम्यक् त्याग) की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हो। इन दोनों में जो कल्याणकारक है, उस एक को मेरे लिए निश्चित रूप से बताओ। १

श्रीभगवान् बोले –

(कर्म)संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारक (अर्थात् मुक्ति देनेवाले) हैं, परन्तु उन (दोनों) में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। २

जो न तो (किसी से) द्वेष करता है और न (किसी की) आकांक्षा ही करता है, वह (कर्मयोगी) सदा संन्यासी ही समझा जाना चाहिए; क्योंकि हे महाबाहो! (राग-द्वेषादि) द्वन्द्वों से रहित व्यक्ति सुखपूर्वक (कर्म)बन्धन से मुक्त हो जाता है। ३

बालक (अर्थात् अज्ञानी लोग ही) सांख्य (अर्थात् कर्मसंन्यास) और योग (अर्थात् कर्मयोग) को भिन्न (अर्थात् अलग अलग फलवाले) कहते हैं, पण्डितगण (ऐसा) नहीं (कहते); (क्योंकि इनमें से) एक में भी उत्तम रूप से स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है। ४

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

सांख्ययोगियों (अर्थात् ज्ञानयोगियों) द्वारा जो (मोक्षनामक) पद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। (इसलिए) जो सांख्य (अर्थात् ज्ञानयोग) और (कर्म)योग को (फल की दृष्टि से) एक देखता है, वही यथार्थ देखता है। ५

परन्तु हे महाबाहो! (कर्म)योग के बिना (कर्म)संन्यास प्राप्त होना दुष्कर है। (कर्म)योग से युक्त हुआ मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ६

जो (कर्म)योग से युक्त है, विशुद्ध अन्त:करणवाला है, जिसने देह पर विजय पा ली है, जो जितेन्द्रिय है तथा समस्त प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मा हो गयी है, ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। ७

(आत्म)तत्त्व को जाननेवाला योगी तो देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, 'इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयों में बरत रही हैं' इस प्रकार समझकर ऐसा माने कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'। ८-९

जो (समस्त) कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल से कमलपत्र की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

(कर्म)योगीगण आसक्ति को त्यागकर केवल (अर्थात् ममत्वबुद्धिशून्य) शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ११

युक्त (अर्थात् कर्मयोगी) कर्मों के फल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति (अर्थात् ज्ञाननिष्ठाजनित परमशान्ति) को प्राप्त होता है; (परन्तु) अयुक्त (अर्थात् सकाम व्यक्ति) कामना की प्रेरणा से (कर्म)फल में आसक्त होकर बँध जाता है। १२

वशी देही (अर्थात् संयतचित्त मनुष्य) सभी कर्मों को मन से त्यागकर, न कुछ करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारों[१] से युक्त (शरीररूप) पूर में सुखपूर्वक स्थित रहता है। १३

परमेश्वर मनुष्य के न तो कर्तृत्व को, न कर्मों को और न कर्मफल के साथ संयोग को ही रचता है; किन्तु (मनुष्य का) स्वभाव[२] ही बरतता है (अर्थात् सब कुछ करता है)। १४

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप को और न पुण्य को ही ग्रहण करता है। किन्तु अज्ञान से (जीवों का विवेक) ज्ञान ढका हुआ है, इसी से जीव मोह को प्राप्त हो रहे हैं। १५

---

१. नौ द्वार – दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, तथा गुदा और उपस्थ। २. स्वभाव – अविद्याजनित पूर्वसंस्कार।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

किन्तु जिनका यह अज्ञान (विवेक)ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य की तरह उस पर (तत्त्व) को प्रकाशित कर देता है। १६

जो तद्बुद्धि हैं (अर्थात् जिनकी बुद्धि उस परमात्मतत्त्व में एकरूप हो गयी है), जो तदात्मा हैं (अर्थात् वह परमात्मा ही जिनकी आत्मा हो गया है), जो तन्निष्ठ हैं (अर्थात् उस परमात्मा में ही जो एकीभाव से स्थित हैं), और जो तत्त्वपरायण हैं (अर्थात् वह परमात्मा ही जिनका परम आश्रय है), ऐसे व्यक्ति ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त हो जाते हैं। १७

पण्डित (अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष) विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, तथा गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चण्डाल में भी समदर्शी होते हैं (अर्थात् एक आत्मतत्त्व को ही अनुस्यूत देखते हैं)। १८

जिनका मन उस समत्वभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया है। चूँकि परब्रह्म (सभी) दोषों से रहित और (सब में) समान है, इसलिए वे (समदर्शी पुरुष) ब्रह्म में ही अवस्थित हैं। १९

जो प्रिय (वस्तु) को पाकर हर्षित नहीं हो और न अप्रिय (वस्तु) को पाकर उद्विग्न ही हो, वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित ब्रह्म को जाननेवाला (पुरुष) ब्रह्म में ही अवस्थित है। २०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

जिसका अन्त:करण बाहरी विषयों में आसक्ति से रहित है ऐसा व्यक्ति आत्मा में जो सुख है उसको प्राप्त होता है। वह ब्रह्मयोग में समाहितचित्त व्यक्ति अक्षय सुख को प्राप्त होता है। २१

जो स्पर्शजन्य (अर्थात् इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले) भोग हैं वे (सब) दु:ख के ही कारण है, तथा उत्पत्ति-विनाशशील (अर्थात् अनित्य) हैं। (इसलिए) हे कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। २२

जो मनुष्य इसी जीवन में, शरीर छूटने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही योगी है और वही सुखी है। २३

जिसका अन्तरात्मा में ही सुख है, जो अन्तरात्मा में ही रमण करनेवाला है, तथा अन्तरात्मा ही जिसका प्रकाश है, वह योगी ब्रह्मभूत होकर (अर्थात् परब्रह्म के साथ एकरूप होकर) ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है। २४

जिनके (समस्त) पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके (सब) संशय निराकृत हो गये हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो सभी प्राणियों के कल्याण में रत हैं, ऐसे ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। २५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

जो काम-क्रोधादि से रहित हो गये हैं, जिन्होंने चित्त को वश में कर लिया है, जिन्होंने आत्मा को जान लिया है, ऐसे यतियों के लिए सब ओर से (अर्थात् जीवित अवस्था में और मरण के पश्चात् भी) ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् मोक्ष) प्राप्त रहता है। २६

बाह्य विषयों को बाहर ही रखता हुआ, दृष्टि को भौंहों के बीच में स्थित करके, तथा नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम रखकर जो संयत इन्द्रिय-मन-बुद्धिवाला, मोक्षपरायण मुनि इच्छा-भय-क्रोध से रहित हो बरतता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

मुझको (समस्त) यज्ञों और तपों का भोक्ता, समस्त लोकों का महान् ईश्वर तथा समस्त प्राणियों का सुहृद् जानकर (मनुष्य) शान्ति को प्राप्त होता है। २९

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः

(ध्यानयोगः)

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते*।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

---

* 'अनुषज्यते' इति पाठान्तरम्।

छठा अध्याय

(ध्यानयोग)

श्रीभगवान् बोले –

कर्मफल का आश्रय न लेता हुआ जो कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है; केवल अग्नि का त्याग करनेवाला तथा क्रियाओं का त्याग करनेवाला ही (संन्यासी और योगी) नहीं (होता)। १

हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान; क्योंकि (फलविषयक) संकल्पों का त्याग न करनेवाला कोई भी व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। २

योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्म ही साधन कहा जाता है; और योगारूढ़ हो जाने पर उसी के लिए शम (अर्थात् सर्वकर्मत्याग) ही साधन कहा जाता है। ३

जिस समय न इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस समय समस्त संकल्पों को त्यागनेवाला पुरुष योगारूढ़ (अर्थात् योग को प्राप्त हुआ) कहा जाता है। ४

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

अपने द्वारा अपना उद्धार करे; अपने को अध:पतित न करे; क्योंकि (मनुष्य) आप ही अपना मित्र है तथा आप ही अपना शत्रु है। ५

जिस आत्मा (अर्थात् जीव) के द्वारा आत्मा (अर्थात् शरीर-मन) जीत लिया गया है उस आत्मा (अर्थात् जीव) का आत्मा मित्र है। किन्तु अनात्मा का (अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा नहीं जीता गया उस जीव का) आत्मा ही शत्रु की भाँति शत्रुता का व्यवहार करता है। ६

आत्मजयी और प्रशान्त व्यक्ति का परमात्मा शीत-उष्ण, सुख-दु:ख तथा मान-अपमान आदि में समाहित (अर्थात् आत्मभाव से विद्यमान) रहता है। ७

जिसका अन्त:करण ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गया है, जो कूटस्थ (अर्थात् अविचल), जितेन्द्रिय तथा मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में समबुद्धिवाला है, वह योगी युक्त (अर्थात् समाधिस्थ) कहा जाता है। ८

सुहृद्[१], मित्र, वैरी, उदासीन[२], मध्यस्थ[३], द्वेष्य[४] एवं बन्धुओं[५] में, सज्जनों में और पापियों में भी समान बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। ९

---

१. सुहृद् – प्रत्युपकार न चाहते हुए उपकार करनेवाला। २. उदासीन – पक्षपातरहित। ३. मध्यस्थ – परस्पर विरोधी दोनों पक्षों का हितैषी। ४. द्वेष्य – अपना अप्रिय। ५. बन्धु – सम्बन्धी।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

योगी अकेला एकान्त में रहता हुआ, अन्त:करण और शरीर को वश में रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित होकर अपने अन्त:करण को निरन्तर युक्त करे (अर्थात् परमात्मा में लगाए)। १०

शुद्ध स्थान में जिस पर क्रम से कुश, मृगचर्म और वस्त्र बिछे हैं तथा जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा ही – ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापित करके – ११

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्त:करण की शुद्धि के लिए योगसाधना करे। १२

शरीर, मस्तक और ग्रीवा को सम और अचल रूप से धारण करके, स्थिर होकर, अपनी नाक के अग्रभाग को देखता हुआ तथा अन्य दिशाओं को न देखता हुआ – १३

प्रशान्त अन्त:करणवाला, भयरहित तथा ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हुआ, मन को वश में करके मच्चित्त (अर्थात् मुझ में चित्त रखनेवाला), मत्परायण (अर्थात् मुझ को सर्वश्रेष्ठ माननेवाला) और युक्त (अर्थात् समाहित) होकर बैठे। १४

जिसका मन नियत (अर्थात् जीता हुआ) है ऐसा योगी इस प्रकार से निरन्तर आत्मा (अर्थात् मन) को समाहित करता हुआ (अर्थात् परमात्मा में लगाता हुआ) मुझमें स्थित रहनेवाली निर्वाणपरमा (अर्थात् मोक्षरूप) शान्ति को प्राप्त होता है। १५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

किन्तु हे अर्जुन! बहुत अधिक खानेवाले का योग (सिद्ध) नहीं होता, और बिलकुल न खानेवाले का भी नहीं; न तो बहुत अधिक सोनेवाले का और न ही (अधिक) जागनेवाले का ही (योग सिद्ध होता है)। १६

दुःखों को हरनेवाला यह योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले का, कर्मों में यथायोग्य प्रयत्न करनेवाले का तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले का ही (सिद्ध) होता है। १७

विशेष रूप से वश में किया हुआ चित्त जिस समय आत्मा में ही अवस्थित हो जाता है, उस समय सभी भोगों से तृष्णारहित हुआ पुरुष युक्त (अर्थात् योगनिष्ठ) कहा जाता है। १८

जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की लौ विचलित नहीं होती, वही उपमा आत्मा के योग में (अर्थात् परमात्मध्यान में) लगे योगी के जीते हुए चित्त की मानी गयी है। १९

जिस अवस्था में योग के सेवन से निरुद्ध हुआ चित्त उपरति को प्राप्त हो जाता है तथा जिस अवस्था में आत्मा (अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण) के द्वारा (परम) आत्मा को देखता हुआ योगी आत्मा में ही (अर्थात् अपने आप में ही) सन्तुष्ट हो जाता है – २०

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

जिस अवस्था में (योगी) इन्द्रियों से परे, केवल (सूक्ष्म) बुद्धि से ही ग्रहण किया जाने योग्य जो अनन्त सुख है उसे अनुभव करता है तथा जिस अवस्था में स्थित हुआ यह (योगी) तत्त्व से (अर्थात् स्व-स्वरूप से) विचलित नहीं होता – २१

(आत्मप्राप्तिरूप) जिस लाभ को प्राप्त होकर (योगी) अन्य किसी लाभ को उससे अधिक नहीं मानता, तथा (आत्मप्राप्तिरूप) जिस अवस्था में स्थित हुआ (योगी) बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता – २२

उस दुःखसंयोगवियोग को (अर्थात् दुःखों के संयोग से रहित अवस्था को) योग नामवाला जानना चाहिए। वह योग खेदरहित चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिए। २३

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं को निःशेष रूप से त्यागकर तथा मन के द्वारा ही इन्द्रियसमूह को सब ओर से संयत करके – २४

धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा धीरे धीरे उपरति को प्राप्त हो, तथा मन को आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित करके (उसके सिवा अन्य) कुछ भी चिन्तन न करे। २५

यह अस्थिर और चंचल मन जिस जिस (विषय के निमित्त) से बाहर विचरता है, उस उस (विषयरूप निमित्त) से उसे हटाकर आत्मा में ही वशीभूत करे। २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

क्योंकि जिसका मन प्रशान्त है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, जो ब्रह्म के साथ एकरूप हो गया है, तथा जो पापों से रहित है, ऐसे योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। २७

इस प्रकार निरन्तर अपने आपको समाहित करता हुआ निष्पाप योगी अनायास ही ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है। २८

सर्वत्र समदर्शी तथा योगयुक्त (अर्थात् समाहित) अन्तःकरणवाला (पुरुष) आत्मा (अर्थात् अपने स्वरूप) को समस्त प्राणियों में स्थित और समस्त प्राणियों को आत्मा (अर्थात् अपने स्वरूप) में (स्थित) देखता है। २९

जो मुझको सर्वत्र (अर्थात् सब में) देखता है तथा सब को मुझमें देखता है, उसके लिए मैं अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह भी मेरे लिए अप्रत्यक्ष नहीं होता। ३०

एकत्वभाव में स्थित हुआ जो समस्त प्राणियों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है। ३१

हे अर्जुन! जो अपने ही सदृश सर्वत्र (अर्थात् सब प्राणियों में) सुख और दुःख को सम देखता है वह योगी परम (श्रेष्ठ) माना गया है। ३२

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अर्जुन बोला –

हे मधुसूदन! तुमने यह जो समत्वरूप योग कहा है, मन की चंचलता के कारण मुझे इसकी स्थिर स्थिति नहीं दिखती है। ३३

क्योंकि हे कृष्ण! यह मन (बड़ा ही) चंचल, प्रमथनशील (अर्थात् देह और इन्द्रियों को क्षुब्ध करनेवाला) बलवान् और दृढ़ है। उसको वश में करना मैं वायु (को रोकने) की भाँति अत्यन्त कठिन मानता हूँ। ३४

श्रीभगवान् बोले –

हे महाबाहो! यह निःसन्देह है कि मन चंचल है और कठिनाई से वशीभूत होनेवाला है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह वशीभूत होता है। ३५

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है ऐसे व्यक्ति द्वारा योग प्राप्त किया जाना कठिन है, किन्तु जिसका मन वश में किया हुआ है और जो प्रयत्नशील है ऐसे व्यक्ति द्वारा योग्य उपायों से (यह योग) प्राप्त किया जा सकता है – ऐसा मेरा मत है। ३६

अर्जुन बोला –

हे कृष्ण! जो (योग में) श्रद्धा से युक्त है किन्तु यत्नशील नहीं है और (इस कारण) जिसका मन योग से विचलित हो गया है, ऐसा व्यक्ति योग की पूर्ण सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

हे महाबाहो! वह ब्रह्म (प्राप्ति) के मार्ग में मोहित और आश्रयहीन व्यक्ति (कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग) दोनों ओर से भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न हुए बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? ३८

हे कृष्ण! मेरे इस सन्देह को नि:शेष रूप से नष्ट करने के लिए तुम ही समर्थ हो क्योंकि तुम्हारे सिवा इस सन्देह का नाश करनेवाला दूसरा कोई नहीं हो सकता। ३९

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ! उस (पुरुष) का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है। क्योंकि हे तात (अर्थात् प्यारे), कल्याण कर्म करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। ४०

योगभ्रष्ट (पुरुष) पुण्यकर्म करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ असंख्य वर्षों तक रहकर फिर पवित्र और श्रीसम्पन्न लोगों के घर में जन्म लेता है। ४१

अथवा (वह) ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। परन्तु यह जो इस प्रकार का जन्म है, वह संसार में अत्यन्त दुर्लभ ही है। ४२

वहाँ वह पूर्व शरीर में प्राप्त उस बुद्धिसंयोग को (अर्थात् बोध के संस्कार को) पा जाता है; तथा हे कुरुनन्दन! फिर वह सिद्धि के लिए पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है। ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।

उस पूर्व (जन्म के) अभ्यास से ही वह परवश हुआ भी (योग की ओर) खिंच जाता है। योग को जानने की इच्छावाला पुरुष भी शब्दब्रह्म का (अर्थात् वेद में कहे हुए कर्मफल का) अतिक्रमण कर जाता है। ४४

किन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पापरहित होकर तथा अनेक जन्मों (के संस्कारों) से सिद्ध होकर फिर परमगति को प्राप्त हो जाता है। ४५

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, (शास्त्र)ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है; योगी (सकाम) कर्म करनेवालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो। ४६

समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् (योगी) मुझमें लगे हुए अन्तःकरण से मुझे भजता है, उसे मैं युक्ततम (अर्थात् परमश्रेष्ठ योगी) मानता हूँ। ४७

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्
में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तमोऽध्यायः

(ज्ञानविज्ञानयोगः)

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

सातवाँ अध्याय

(ज्ञानविज्ञानयोग)

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ! मुझमें आसक्त मनवाला होकर तथा मुझे आश्रय बनाकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्णतः मुझको निःसंशय रूप से जानेगा, उसे सुन। १

यह ज्ञान मैं तुझे विज्ञान के सहित सम्पूर्णतया बताऊँगा, जिसे जान लेने पर इस संसार में फिर दूसरा कुछ भी जानने योग्य (विषय) शेष नहीं रह जाता। २

हजारों मनुष्यों में कोई एक ही (मोक्षरूप) सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है; (और उन) प्रयत्न करनेवाले सिद्धों (अर्थात् साधकों) में भी कोई एक ही मुझको तत्त्व से (अर्थात् स्वरूपतः) जानता है। ३

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी – इस प्रकार यह मेरी आठ प्रकार से विभक्त प्रकृति है। ४

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

यह मेरी अपरा (अर्थात् निकृष्ट) प्रकृति है; किन्तु हे महाबाहो! इससे अन्य मेरी उस जीवरूपा परा (अर्थात् श्रेष्ठ) प्रकृति को जान, जिसके द्वारा यह (समस्त) जगत् धारण किया जाता है। ५

तू ऐसा जान कि समस्त प्राणी (परा-अपरा) प्रकृतिरूप कारण (से ही उत्पन्न होने)वाले हैं तथा मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति-विनाश (अर्थात् परमकारण) हूँ। ६

हे धनंजय! मुझसे बढ़कर अन्य कोई भी (जगत् का क़ारण) नहीं है। सूत में पिरोयी मणियों की तरह यह समस्त (जगत्) मुझमें पिरोया हुआ है। ७

हे कौन्तेय! मैं जलों में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, समस्त वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द हूँ तथा पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। ८

मैं पृथ्वी में पावन गन्ध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, समस्त प्राणियों में जीवन हूँ, और तपस्वियों में तप हूँ। ९

हे पार्थ! मुझे तू समस्त प्राणियों का सनातन बीज (अर्थात् नित्य कारण) जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियो का तेज हूँ। १०

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल (अर्थात् सामर्थ्य) हूँ, तथा प्राणियों में धर्म से अविरोधी (अथात् शास्त्रानुकूल) काम हूँ। ११

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

जो भी सात्त्विक भाव हैं तथा जो राजसिक और तामसिक (भाव) हैं, उन (सब) को तू मुझसे ही (उत्पन्न हुए) जान। परन्तु मैं उनमें (अर्थात् उनके वश में) नहीं हूँ – वे मुझमें (अर्थात् मेरे वश में) हैं। १२

इन तीन गुणमय (अर्थात् गुणों से उत्पन्न) भावों से यह सम्पूर्ण जगत् मोहित है, (इसीलिए वह) इन (गुणों) से अतीत मुझ अविनाशी को नहीं जानता। १३

यह मेरी त्रिगुणमयी अलौकिक माया दुस्तर है; (परन्तु) जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं। १४

माया द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, ऐसे आसुरी भाव के आश्रित हुए, मनुष्यों में अधम, दुष्कर्म करनेवाले मूढ़ लोग मेरी शरण में नहीं आते। १५

हे भरतश्रेष्ठ! हे अर्जुन! आर्त,[१] जिज्ञासु[२], अर्थार्थी[३] और ज्ञानी[४] – ये चार प्रकार के सुकृती मनुष्य मुझको भजते हैं। १६

उनमें नित्ययुक्त (अर्थात् सदा मुझमें चित्त लगाए रखनेवाला) तथा एकभक्ति (अर्थात् एकमात्र मेरी ही भक्ति करनेवाला) ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ तथा वह (ज्ञानी) भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। १७

---

१. आर्त – रोग, संकट आदि से पीड़ित। २. जिज्ञासु – मुझे जानने की इच्छावाला। ३. अर्थार्थी – धनादि की कामनावाला। ४. ज्ञानी – मुझे परोक्ष रूप से जाननेवाला।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

ये सभी (भक्त) श्रेष्ठ हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा (अर्थात् स्वरूप) ही है – ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह समाहितचित्त हो सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझको ही आश्रय करके स्थित है। १८

अनेक जन्मों के अन्त (के जन्म) में ज्ञानवान् (पुरुष) 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस भाव से मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। १९

उन उन (अर्थात् भिन्न भिन्न भोगों की) कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, ऐसे लोग अपने अपने स्वभाव से नियन्त्रित होकर, उस उस (अनुरूप) नियम का अवलम्बन करते हुए अन्य देवताओं को भजते हैं। २०

जो जो (सकाम) भक्त जिस जिस (देवता के) स्वरूप का श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस उस भक्त की उसी (देवतासम्बन्धी) श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ। २१

वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (देवता) की आराधना करता है तथा उस (देवता) से मेरे ही द्वारा निश्चित किये हुए उन इच्छित भोगों को पाता है। २२

किन्तु उन अल्पबुद्धिवालों का वह फल नाशवान् होता है। देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। २३

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

येषां त्वन्तगतं* पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

---

* 'येषामन्तगतं' इति पाठान्तरम्।

बुद्धिहीन (मनुष्य) मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभाव को न जानते हुए, मुझ अव्यक्त (अर्थात् संसारातीत) को (मनुष्य की भाँति) व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। २४

योगमाया द्वारा आच्छादित हुआ मैं सब के लिए प्रकट नहीं होता, (इसलिए) यह मूढ़ लोक मुझ जन्मरहित अविनाशी (परमात्मा) को नहीं जानता। २५

हे अर्जुन! मैं पूर्व में हुए, वर्तमान में रहनेवाले और भविष्य में होनेवाले सब प्राणियों को जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता। २६

हे भरतवंशी! हे परन्तप! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दु:खादि) द्वन्द्वरूप मोह से संसार में समस्त प्राणी मूढ़ता को प्राप्त हो रहे हैं। २७

परन्तु जिन पुण्यकर्म करनेवाले लोगों के पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त हुए दृढ़निश्चयी व्यक्ति मुझको भजते हैं। २८

जरा और मरण से छूटने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को जान जाते हैं तथा सम्पूर्ण अध्यात्म को एवं समस्त कर्म को भी (जान जाते हैं)। २९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भागवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

जो मुझको अधिभूत, अधिदेव एवं अधियज्ञ के सहित जानते हैं, वे समाहित चित्तवाले (व्यक्ति) मृत्यु के समय में भी मुझे जानते हैं (अर्थात् मुझे प्राप्त हो जाते हैं)। ३०

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टमोऽध्यायः

(अक्षरब्रह्मयोगः)

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

आठवाँ अध्याय

(अक्षरब्रह्मयोग)

अर्जुन बोला –

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहा गया है और अधिदैव किसको कहा जाता है? १

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है और इस देह में किस प्रकार (स्थित) है? तथा संयतचित्तवाले व्यक्तियों के द्वारा मृत्यु के समय तुम किस प्रकार जाने जाते हो? २

श्रीभगवान् बोले –

परम अक्षर ही 'ब्रह्म'[१] है; स्वभाव (अर्थात् परब्रह्म का प्रत्येक शरीर में अन्तरात्मभाव) ही 'अध्यात्म'[२] (नाम से) कहा जाता है; तथा प्राणियों की सत्ता को उत्पन्न करनेवाला जो विसर्ग (अर्थात् द्रव्यों का त्याग) है, वही 'कर्म'[३] नाम से कहा गया है। ३

---

१. ब्रह्म – अक्षर परमात्मा।

२. अध्यात्म – देह पर अधिकार करके भोक्तारूप में विद्यमान रहनेवाला जीवात्मा अर्थात् जीवभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म।

३. कर्म – देवताओं के उद्देश्य से द्रव्यत्यागरूप यज्ञ जिसके द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

क्षरभाव (अर्थात् विनाशी पदार्थ) ही 'अधिभूत'[४] हैं; पुरुष (अर्थात् हिरण्यगर्भ) ही 'अधिदैव'[५] है, और हे देहधारियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! इस देह में मैं ही 'अधियज्ञ'[६] हूँ। ४

जो (मनुष्य) अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भाव को (अर्थात् स्वरूप को) प्राप्त होता है – इसमें कोई सन्देह नहीं। ५

हे कौन्तेय! (यह मनुष्य) अन्त समय में जिस जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, सदा उसी भाव से भावित होने के कारण उस उस (भाव) को ही प्राप्त होता है। ६

इसलिए तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। (इस प्रकार) मुझ में मन-बुद्धि अर्पित करनेवाला होकर तू निःसन्देह मुझको प्राप्त होगा। ७

हे पार्थ! अभ्यासरूप योग से युक्त, अन्यत्र कहीं न जानेवाले चित्त के द्वारा चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। ८

---

४. अधिभूत – प्राणियों पर अधिकार करके अवस्थित रहनेवाले देहादि नाशवान् पदार्थ।

५. अधिदैव – सभी देवताओं का अधिपति, समस्त प्राणियों का आदिकर्ता हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा।

६. अधियज्ञ – समस्त यज्ञों का प्रवर्तक, फलदाता तथा अधिष्ठाता।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

कवि (अर्थात् सर्वज्ञ), पुरातन, सब के शासक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सब के विधाता, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य के समान नित्यप्रकाशरूप और (अज्ञान-)अन्धकार से परे विद्यमान (परमेश्वर) का जो स्मरण-चिन्तन करता है, – ९

भक्ति और योगबल से युक्त हुआ वह (मनुष्य) अन्तसमय में स्थिर मन से भौंहों के बीच में प्राण को भलीभाँति स्थापित करके (शरीर छोड़ने पर) उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। १०

वेद (के अर्थ) को जाननेवाले (विद्वान्) जिसे अक्षर कहते हैं, आसक्तिरहित यतिगण जिसमें प्रविष्ट होते हैं, जिसको चाहनेवाले (साधक) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह (परम) पद मैं तुझे संक्षेप में बताऊँगा। ११

समस्त (इन्द्रियरूप) द्वारों का संयम करके, एवं मन का हृदय में निरोध करके, अपने प्राण को मस्तक में स्थापित करके, योगधारणा में स्थित होकर, – १२

'ओम्' इस एकाक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा (उसके अर्थस्वरूप) मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) शरीर को छोड़कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। १३

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

हे पार्थ! जो (मनुष्य) अनन्यचित्त होकर (अर्थात् चित्त को मेरे सिवाय अन्य किसी विषय में नहीं जाने देकर) नित्य (अर्थात् जीवनभर) निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त (अर्थात् सदा मुझमें लगे हुए) योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। १४

मुझको पाकर, (मोक्षरूप) परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मागण, अनित्य दुःखालयस्वरूप पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। १५

हे अर्जुन! (भूलोक से) ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्ती (अर्थात् पुनःपुनः आनेवाले) हैं। परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। १६

जो ब्रह्मा के दिन को एक हजार युग तक की अवधिवाला जानते हैं तथा (ब्रह्मा की) रात्रि को एक हजार युग तक की अवधिवाली (जानते हैं), वे लोग दिन और रात को (अर्थात् काल के तत्त्व को) जाननेवाले हैं। १७

(ब्रह्मा का) दिन आने पर अव्यक्त (अवस्था) से समस्त अभिव्यक्तियाँ (अर्थात् चर-अचर प्रजाएँ) उत्पन्न होती है, तथा (ब्रह्मा की) रात्रि आने पर वे उसी अव्यक्त नामक अवस्था में विलीन हो जाती हैं। १८

हे पार्थ! वही यह प्राणियों का समुदाय (बारम्बार) प्रकट हो-होकर विवश हुआ ही (ब्रह्मा की) रात्रि के आने पर विलीन हो जाता है तथा (ब्रह्मा के) दिन के आने पर (पुनः) उत्पन्न होता है। १९

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

परन्तु उस अव्यक्त से भिन्न दूसरा जो सनातन अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियादि से प्रत्यक्ष न होनेवाला) भाव है, वह समस्त प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। २०

जो अव्यक्त (भाव) 'अक्षर' (इस नाम से) कहा गया है उसी को परमगति कहते हैं; तथा जिस (अव्यक्त भाव) को प्राप्त होकर (जीव) फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है। २१

हे पार्थ! समस्त प्राणी जिसके अन्दर अवस्थित हैं, जिसके द्वारा यह समस्त (संसार) व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है। २२

हे भरतश्रेष्ठ! जिस काल[७] में (देह छोड़कर) गये हुए योगीजन अनावृत्ति (अर्थात् अपुनर्जन्म) को प्राप्त होते हैं और (जिस काल में देह छोड़कर गये हुए योगीजन) आवृत्ति (अर्थात् पुनर्जन्म) को (प्राप्त होते हैं), उस काल[७] को (अर्थात् उन दोनों मार्गों को) मैं कहूँगा। २३

जिस मार्ग में अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के छह माह (के अभिमानी देवता) हैं, उस मार्ग से (शरीर छोड़कर) गये हुए ब्रह्मवेत्ता लोग (क्रम से) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। २४

---

७. यहाँ पर 'काल' शब्द 'मार्ग' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नाम नामाष्टमोऽध्यायः।

जिस मार्ग में धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छह मास (के अभिमानी देवता) हैं, उस मार्ग से (शरीर छोड़कर) गया हुआ योगी (क्रम से) चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर (वहाँ अपने शुभकर्मों के फल को भोगने के पश्चात्) लौट आता है। २५

क्योंकि जगत् के ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग[८] नित्य माने गये हैं। इनमें एक (अर्थात् शुक्ल मार्ग) से गया हुआ (जीव) अनावृत्ति को प्राप्त होता है (अर्थात् पुनर्जन्म नहीं लेता) तथा दूसरे (अर्थात् कृष्णमार्ग) से गया हुआ (जीव) फिर लौट आता है (अर्थात् पुनर्जन्म लेता है)। २६

हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को (इस प्रकार) जाननेवाला कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होता। इसीलिए हे अर्जुन! तू सब समय योगयुक्त (अर्थात् समाहितचित्त) हो। २७

योगी इस (रहस्य) को जानकर वेदों (के अध्ययन) में, यज्ञों में, तपों में और दानों में जो पुण्यफल बताया गया है, उस सब का अतिक्रमण कर जाता है तथा परम आदि स्थान को (अर्थात् सब के कारणरूप परमपद को) प्राप्त हो जाता है। २८

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

८. शुक्ल और कृष्ण मार्गों को ही क्रमशः देवयान और पितृयान अथवा अर्चिमार्ग और धूममार्ग कहा जाता है।

नवमोऽध्यायः

(राजविद्याराजगुह्ययोगः)

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥

नवाँ अध्याय

(राजविद्याराजगुह्ययोग)

श्रीभगवान् बोले –

असूया (अर्थात् दोषदृष्टि) से रहित तुझको मैं यह परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तू इस अशुभ (संसारबन्धन) से मुक्त हो जाएगा। १

यह (ज्ञान) राजविद्या (अर्थात् समस्त विद्याओं का राजा) है, राजगुह्य (अर्थात् समस्त गोपनीय विषयों का भी राजा) है, अति पवित्र और उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाला है, धर्ममय है, (प्राप्त) करने में सुगम तथा अविनाशी है। २

हे परन्तप! इस धर्म के प्रति श्रद्धारहित पुरुष मुझको प्राप्त न होकर मृत्युमय संसारमार्ग में (बारम्बार) लौटते रहते हैं। ३

मुझ अव्यक्तस्वरूप (परमात्मा) के द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है। तथा समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं; (किन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ। ४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

(परन्तु वास्तव में ये समस्त) प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं। तू मेरे इस ईश्वरीय योग (अर्थात् घटना) को देख कि मेरा आत्मा (अर्थात् स्वरूप) प्राणियों का भरण-पोषण करनेवाला तथा प्राणियों का उत्पादन-वर्धन करनेवाला होता हुआ भी प्राणियों में स्थित नहीं है। ५

जिस प्रकार सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, उसी प्रकार समस्त प्राणी मुझमें ही स्थित हैं – ऐसा जान। ६

हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में समस्त प्राणी मेरी (अपरा) प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और कल्प के आरम्भ में उनको मैं फिर उत्पन्न करता हूँ। ७

प्रकृति के वश में होने के कारण परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणीसमुदाय को मैं अपनी प्रकृति को वशीभूत करके, बारम्बार उत्पन्न करता हूँ। ८

हे धनंजय! उन कर्मों में अनासक्त तथा उदासीन की भाँति स्थित मुझको वे कर्म नहीं बाँधते। ९

मुझ अध्यक्ष से (प्रेरित होकर) प्रकृति चर-अचर (समस्त जगत्) को सृजन करती है। हे कौन्तेय! इसी हेतु से यह जगत् विविध प्रकार से परिवर्तित हो रहा है (अर्थात् घूम रहा है)। १०

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

मेरे परमभावं को न जाननेवाले मूढ़ (अर्थात् अविवेकी) लोग मनुष्यशरीर के आश्रित मुझ (समस्त) प्राणियों के महान् ईश्वर की अवज्ञा करते हैं (अर्थात् मुझ परमात्मा को सामान्य मनुष्य समझते है)। ११

वे व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ कर्मवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त (मूढ़) लोग मोह उत्पन्न करनेवाली राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति का ही आश्रय लेकर रहते हैं। १२

परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर रहनेवाले महात्मागण मुझको समस्त प्राणियों का आदि (कारण) तथा अविनाशी जानकर अनन्य मन से भजते हैं। १३

वे दृढ़निश्चयी लोग निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, (मेरी प्राप्ति के लिए) प्रयत्न करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए नित्ययुक्त रहकर (अर्थात् सदा मेरे ध्यान में लगे रहकर) मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं। १४

दूसरे (ज्ञानीजन) ज्ञानरूप यज्ञ के द्वारा मेरा पूजन करते हुए एकत्वभाव से (अर्थात् अभेदभाव से) उपासना करते हैं; (तथा दूसरे लोग) मुझ विश्वतोमुख (अर्थात् विराट्स्वरूप परमेश्वर) की पृथक्भाव से अनेक प्रकार से (उपासना करते हैं)। १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

मैं क्रतु[१] हूँ, मैं यज्ञ[२] हूँ, मैं स्वधा[३] हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ और मैं ही हवनकर्म भी हूँ। १६

मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धाता (अर्थात् धारण करनेवाला ईश्वर) और पितामह हूँ; मैं ही जानने योग्य वस्तु हूँ, मैं पवित्र (करनेवाला) हूँ, मैं ओंकार हूँ तथा मैं ही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी हूँ। १७

मैं (समस्त प्राणियों का) गन्तव्य, भरण-पोषणकर्ता, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरणयोग्य, सुहृद्, उत्पत्तिकारण एवं प्रलयकारण, (आधार-)स्थान, निधान (अर्थात् लयस्थान) तथा अविनाशी बीज (अर्थात् कारण) हूँ। १८

मैं ही (सूर्यरूप से) तपता हूँ, वर्षा को खींचता हूँ तथा बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ, तथा सत् और असत् (सभी) मैं ही हूँ। १९

तीनों वेदों को जाननेवाले, सोमरस का पान करनेवाले तथा पापरहित व्यक्ति यज्ञों के द्वारा मेरा पूजन करके स्वर्गप्राप्ति की चाह करते हैं। वे पुण्य (फलस्वरूप) सुरेन्द्रलोक (अर्थात् स्वर्ग) को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं। २०

---

१. क्रतु – श्रौतकर्म अर्थात् वैदिक कर्म।

२. यज्ञ – स्मार्तकर्म अर्थात् स्मृतियों में निर्दिष्ट कर्म।

३. स्वधा – पितरों को दिया जानेवाला अन्न।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर, पुण्य का क्षय हो जाने पर मर्त्यलोक में लौट आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म (अर्थात् तीनों वेदों में कहे गये सकाम कर्म) का आश्रय लेनेवाले भोगकामनायुक्त मनुष्य बारम्बार आवागमन को ही प्राप्त होते हैं। २१

अनन्य (भाव से युक्त) होकर मेरा चिन्तन करते हुए जो लोग मेरी उपासना करते है, (मुझमें) निरन्तर युक्त रहनेवाले उन लोगों का योग-क्षेम[४] मैं ही वहन करता हूँ। २२

हे कौन्तेय! श्रद्धा से युक्त हुए जो भक्त अन्य देवताओं का भी पूजन करते है, वे भी मेरा ही पूजन करते है, (परन्तु करते है) अविधिपूर्वक (अर्थात् अज्ञानपूर्वक)। २३

मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ। परन्तु वे मुझको यथार्थतः नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं (अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं)। २४

देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों का पूजन करनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं तथा मेरा पूजन करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं। २५

---

४. योग – अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति है। क्षेम – प्राप्त वस्तु की रक्षा।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

जो मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल (आदि) प्रदान करता है, उस संयतचित्त (भक्त) के भक्तिपूर्वक प्रदान किये हुए उस उपहार को मैं खाता हूँ। २६

हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण कर। २७

इस प्रकार तू शुभ और अशुभ फलों से युक्त कर्मरूप बन्धनों से छूट जाएगा तथा संन्यासयोग[५] से युक्त चित्तवाला तू (कर्मबन्धन से) विमुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जाएगा। २८

मैं सब प्राणियों में सम हूँ। मेरा न तो (कोई) द्वेष्य है और न (कोई) प्रिय है। परन्तु जो लोग मुझको प्रेमपूर्वक भजते है, वे मुझमें (स्थित) है तथा मैं भी उनमें (स्थित) हूँ। २९

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी (मनुष्य) भी अनन्यचित्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माना जाना चाहिए; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला हो गया है। ३०

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा चिरन्तन शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे कौन्तेय! तू यह प्रतिज्ञा कर ले (अर्थात् निश्चयपूर्वक जान ले) कि मेरा भक्त (कभी) नष्ट नहीं होता। ३१

---

५. संन्यासयोग – जिसमें समस्त कर्म भगवान् के अर्पण किये जाते है वह योग।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।

हे पार्थ! जो भी पापयोनि हैं (अर्थात् पाप से जन्मे हैं) तथा जो स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी मेरा आश्रय लेकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं। ३२

फिर (जो) पुण्यवान् ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त (हैं, उनका तो कहना ही) क्या? (इसलिए) इस अनित्य और सुखरहित (मनुष्य) लोक को पाकर तू मेरा (ही) भजन कर। ३२

तू मुझमें मन (रखने)वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार अपने को मुझमें युक्त करके, मेरे परायण हुआ तू मुझ को ही प्राप्त होगा। ३४

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दशमोऽध्यायः

(विभूतियोगः)

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥

दसवाँ अध्याय

(विभूतियोग)

श्रीभगवान् बोले -

हे महाबाहो! मेरे परम (श्रेष्ठ) वचन को तू फिर सुन, जो कि मैं
तुझ प्रसन्न होनेवाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा। १

मेरी उत्पत्ति को (अथवा मेरे प्रभाव को) न तो देवता लोग जानते
हैं, और न महर्षि लोग ही। क्योंकि मैं ही सब प्रकार से देवताओं का
और महर्षियों का आदि (कारण) हूँ। २

जो मुझको आदिरहित, जन्मरहित तथा (समस्त) लोकों का महान्
ईश्वर जानता है, वह मर्त्यजनों में (अर्थात् मनुष्यों में) मोह से रहित है
तथा वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। ३

बुद्धि, ज्ञान, मोहहीनता, क्षमा, सत्य, दम (अर्थात् बाहरी इन्द्रियों
का संयम), शम (अर्थात् अन्तःकरण का संयम), सुख-दुःख, उत्पत्ति-
प्रलय तथा भय-अभय, - ४

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन* योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

* 'सोऽविकल्पेन' इति पाठान्तरम्।

अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति-अपकीर्ति – ये प्राणियों के भिन्न भिन्न प्रकार के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। ५

सात महर्षि, (उनसे) पहले के चार (महर्षि), तथा (चौदह) मनु – ये मुझमें भाववाले और (मेरे द्वारा) मन से (अर्थात् संकल्प से) जन्मे है, जिनकी संसार में यह (समस्त) प्रजा है। ६

जो मेरी इस विभूति (अर्थात् विस्तार) को तथा योग (शक्ति) को तत्त्वत (अर्थात् यथार्थतः) जानता है, वह अविचल योग से युक्त हो जाता है – इसमें कोई सन्देह नहीं। ७

मैं ही सब (संसार) का उत्पत्तिस्थान हूँ; मुझसे ही सब (संसार) हो रहा है – ऐसा समझकर (भक्ति) भाव से युक्त ज्ञानीजन मुझे भजते हैं। ८

जिनका चित्त मुझमें ही लगा है तथा जिन्होंने मुझमें ही प्राण (अर्थात् जीवन) अर्पण कर दिया है, ऐसे (भक्त) लोग आपस में एक दूसरे को (मेरा स्वरूप) समझाते हुए और (मेरे गुण) बतलाते हुए सदा सन्तुष्ट होते हैं तथा रमण करते हैं। ९

(मुझमें) सतत लगे हुए तथा (मुझको) प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन लोगों को मैं वह बुद्धियोग (अर्थात् तत्त्वज्ञानरूप योग) देता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं। १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

उन पर अनुग्रह करने के लिए ही, उनके आत्मभाव में (अर्थात् अन्तःकरण में) स्थित मैं प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा उनके अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ। ११

अर्जुन बोला –

तुम परम ब्रह्म, परम धाम तथा परम पवित्र हो। देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास (आदि) सभी ऋषि तुम्हें सनातन पुरुष, दिव्य, आदिदेव, जन्मरहित और सर्वव्यापी कहते हैं; तथा तुम स्वयं भी मुझसे (ऐसा ही) कह रहे हो। १२-१३

हे केशव! जो तुम मुझसे कह रहे हो वह सब मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि हे भगवन्! तुम्हारी अभिव्यक्ति को न देवता जानते हैं और न दानव ही। १४

हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन (अर्थात् प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले)! हे भूतेश! हे देवों के देव! हे संसार के स्वामी! तुम स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हो। १५

उन अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णतया कहने में तुम्हीं समर्थ हो, जिन विभूतियों के द्वारा तुम इन लोकों को व्याप्त करके अवस्थित हो। १६

हे योगिन्! तुम्हारा सदा चिन्तन करता हुआ मैं तुमको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! तुम किन किन भावों में (अर्थात वस्तुओं में) मेरे द्वारा चिन्तन किये जाने योग्य हो? १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को तथा विभूति को फिर विस्तारपूर्वक कहो; क्योंकि तुम्हारे अमृत (जैसे वचनों) को सुनते हुए मेरी तृप्ति ही नहीं हो रही है। १८

श्रीभगवान् बोले –

हाँ, ठीक है। मैं तुझको अपनी दिव्य विभूतियाँ प्रधानता से बतलाऊँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरे विस्तार का (अर्थात् विभूतियों का) अन्त नहीं है। १९

हे गुड़ाकेश! मैं समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ तथा मैं ही समस्त प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। २०

मैं आदित्यों में विष्णु (नामक आदित्य) हूँ; ज्योतियों में किरणशाली सूर्य हूँ, मरुतों में मरीचि (नामक मरुत्) हूँ तथा नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ। २१

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में वासव (अर्थात् इन्द्र) हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ तथा प्राणियों में चेतना (अर्थात् बुद्धिवृत्ति) हूँ। २२

मैं रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष एवं राक्षसों में धनेश्वर (अर्थात् कुबेर) हूँ, वसुओं में अग्नि हूँ तथा शिखरवालों में (अर्थात् पर्वतों में) सुमेरु पर्वत हूँ। २३

हे पार्थ! पुरोहितों में तू मुझे प्रमुख (पुरोहित) बृहस्पति जान। मैं सेनापतियों में स्कन्द (अर्थात् कार्तिकेय) हूँ तथा जलाशयों में सागर हूँ। २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणियों में एक अक्षर (अर्थात् ओंकार) हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ हूँ तथा स्थावरों में (अर्थात् स्थितिशील पदार्थों में) हिमालय हूँ। २५

मैं सब वृक्षों में पीपल (का वृक्ष) हूँ, देवर्षियों में नारद हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ (नामक गन्धर्व) हूँ, तथा सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। २६

मुझे तू घोड़ों में अमृत (के लिए किये गये समुद्रमन्थन) से उत्पन्न उच्चैःश्रवा (नामक घोड़ा) जान, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत (नामक हाथी) और मनुष्यों मे राजा जान। २७

मैं शस्त्रों में वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ। मैं प्रजा का उत्पादक कामदेव हूँ और सर्पों में (सर्पराज) वासुकि हूँ। २८

मैं नागों में अनन्त (अर्थात् नागराज शेष) हूँ; जलदेवताओं में (उनका राजा) वरुण हूँ; पितरों में अर्यमा (नामक पितृराज) हूँ तथा नियमन करनेवालों में यमराज हूँ। २९

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, कलन (अर्थात् गणना) करनेवालों में काल हूँ, पशुओं में (पशुराज) सिंह हूँ और पक्षियों में विनतापुत्र (अर्थात् गरुड़) हूँ। ३०

मैं वेगवानों में (अथवा पवित्र करनेवालों में) पवन हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, मत्स्यों में मकर हूँ, तथा नदियों में गंगा हूँ। ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या तथा वादियों का वाद[१] हूँ। ३२

मैं अक्षरों में अकार हूँ, और समासों में द्वन्द्वसमास हूँ। मैं ही अविनाशी काल (अथवा काल का भी काल – महाकाल) हूँ तथा मैं ही विश्वतोमुख (अर्थात् सब ओर मुखवाला) विधाता (अर्थात् सब का धारण करनेवाला तथा समस्त संसार के कर्मफलों का विधान करनेवाला ईश्वर) हूँ। ३३

मैं सब कुछ हरनेवाला मरण हूँ, तथा भविष्य में उत्पन्न होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हूँ। मैं स्त्रियों में कीर्ति[२], श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ। ३४

मैं सामों में (अर्थात् सामवेद के प्रकरणों में) 'बृहत्साम' (नामक प्रधान प्रकरण) हूँ, छन्दों में गायत्री (नामक छन्द) हूँ, मैं माहों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्त हूँ। ३५

मैं छल करनेवालों में द्यूत (अर्थात् जूआ) हूँ, तेजस्वियों में तेज हूँ। मैं (जीतनेवालों का) जय हूँ, (निश्चय करनेवालों का) निश्चय हूँ, तथा सात्त्विक लोगों का सत्त्व हूँ। ३६

---

१. वाद, जल्प, वितण्ड – ये तीन प्रकार के तर्क हैं, जिनमें वाद तत्त्वनिर्णय के लिए, जल्प स्वपक्ष-मण्डन के लिए, तथा वितण्ड परपक्ष-खण्डन के लिए किया जानेवाला तर्क है।

२. कीर्ति आदि ये सात धर्म की पत्नियाँ हैं। अथवा ये सात स्त्रीवाचक सद्गुण हैं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

मैं वृष्णिवंशियों में वासुदेव (अर्थात् कृष्ण) हूँ, पाण्डवों में धनंजय (अर्थात् अर्जुन) हूँ। मैं मुनियों में व्यास हूँ और कवियों मे (अर्थात् ज्ञानियों में) उशना कवि (अर्थात् कवि शुक्राचार्य भी) मैं ही हूँ। ३७

दमन करनेवालों में दण्ड (अर्थात् दमनशक्ति) हूँ, जीतने की इच्छावालों में नीति हूँ। मैं गोपनीय भावों में मौन हूँ तथा ज्ञानवानों में ज्ञान हूँ। ३८

हे अर्जुन! जो समस्त प्राणियों का बीज (अर्थात् उत्पत्तिकारण) है, वह भी मैं ही हूँ। (क्योंकि) ऐसा वह कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना (अस्तित्ववान्) हो। ३९

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। विभूतियों का यह विस्तार तो मेरे द्वारा एकदेश से (अर्थात् संक्षेप से) कहा गया है। ४०

(संसार में) जो जो भी विभूतिमान् (अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त), श्रीमान् (अर्थात् समृद्धियुक्त) या ऊर्जित (अर्थात् शक्तिमान्) पदार्थ है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान। ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।

अथवा हे अर्जुन! इस (प्रकार) बहुत जानने से तेरा क्या (प्रयोजन है)? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश से धारण करके स्थित हूँ। ४२

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'विभूतियोग' नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एकादशोऽध्यायः

(विश्वरूपदर्शनयोगः)

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो* मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥४॥

---

* 'विस्तरतो' इति पाठान्तरम्।

ग्यारहवाँ अध्याय

(विश्वरूपदर्शनयोग)

अर्जुन बोला –

मुझ पर अनुग्रह करने के लिए तुमने जो परम गोपनीय आध्यात्म-
नामक वचन कहा, उससे मेरा यह मोह चला गया है। १

हे कमलपत्र जैसे नेत्रोंवाले! तुमसे मैंने प्राणियों का उद्भव और
प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा (तुम्हारा) अविनाशी माहात्म्य भी
(सुना है)। २

हे परमेश्वर! तुमने अपने (स्वरूप) को जिस प्रकार कहा, वह ठीक
वैसा ही है। (किन्तु) हे पुरुषोत्तम! तुम्हारे ईश्वरीय रूप को मैं देखना
चाहता हूँ। ३

हे प्रभो! यदि तुम ऐसा मानते हो कि वह (रूप) मेरे द्वारा देखा
जा सकता है तो फिर हे योगेश्वर! तुम मुझे (उस) अविनाशी स्व(रूप)
को दिखाओ। ४

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ! तू सैकड़ों तथा हजारों (प्रकार) से मेरे अनेक वर्णों तथा आकृतियों से युक्त बहुविध दिव्य रूपों को देख। ५

हे भरतवंशी! तू (मुझमें) आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, (दो) अश्विनीकुमारों को, और मरुद्‌गणों को देख। तथा जो पहले नहीं देखे गये थे ऐसे अनेक आश्चर्यों को देख। ६

हे गुड़ाकेश! आज तू मेरे इस शरीर में एकदेश में स्थित चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देख ले तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है (सो भी देख ले)। ७

परन्तु मुझे तू अपने इन्हीं नेत्रों से नहीं देख सकेगा। (इसलिए) मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ; (इससे) तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख। ८

संजय बोला –

हे राजन्! महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर फिर पार्थ को ईश्वरीय परम रूप दिखलाया। ९

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्‌भुत दृश्यों से युक्त, अनेक दिव्य आभूषणों से भूषित, अनेक दिव्य अस्त्र उठाये हुए,– १०

दिव्य मालाओं और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्धों का लेप किये हुए, समस्त आश्चर्यों से युक्त, अन्तरहित और सब ओर मुखवाले देव को (अर्जुन ने देखा)। ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां* सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं-
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

* 'त्वा' इति पाठान्तरम्।

यदि आकाश में हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ प्रकट हो तो वह उस महात्मा (अर्थात् विश्वरूप परमात्मा) के प्रकाश के तुल्य शायद ही हो। १२

उस समय पाण्डव ने अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देवाधिदेव के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा। १३

तत्पश्चात् आश्चर्य से अभिभूत तथा रोमांच से युक्त हुआ धनंजय देव को सिर से (अर्थात् नतमस्तक हो) प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहने लगा – १४

अर्जुन बोला –

हे देव! मैं तुम्हारी देह में समस्त देवों को देख रहा हूँ। उसी प्रकार प्राणियों के विशेष विशेष समुदायों को, कमलासन पर आसीन शासनकर्ता ब्रह्मा को, समस्त ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को (देख रहा हूँ)। १५

मैं तुमको अनेक भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों से युक्त देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! फिर मैं तुम्हारे न अन्त को देख रहा हूँ, न मध्य को, और न आदि को ही। १६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से देदीप्यमान तेज के पुंजस्वरूप, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान प्रकाशयुक्त, अति कठिनता से देखे जाने योग्य तथा अप्रमेयस्वरूप (अर्थात् बुद्धि आदि प्रमाणों से जिसका ग्रहण नहीं होता ऐसे) तुमको मैं सब ओर से देख रहा हूँ। १७

तुम ही जानने योग्य परम अक्षर (अर्थात् अविनाशी परब्रह्म) हो, तुम ही इस विश्व के परम आश्रय हो, तुम ही अविनाशी हो, नित्यधर्म के रक्षक हो तथा तुम ही सनातन पुरुष हो – ऐसा मेरा मत है। १८

मैं तुम्हें आदि-मध्य-अन्त से रहित, अनन्त शक्तिसम्पन्न, अनन्त भुजाधारी, चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रों से युक्त, प्रज्वलित-अग्निरूप मुखों से युक्त तथा अपने तेज से इस संसार को सन्तप्त करते हुए देख रहा हूँ। १९

स्वर्ग और पृथ्वी का यह मध्यस्थल तथा समस्त दिशाएँ भी एक तुम्हारे ही द्वारा व्याप्त हैं। हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और भीषण रूप को देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। २०

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

वे देवताओं के समुदाय तुममें ही प्रवेश कर रहे हैं। (उनमें से) कोई भयभीत होकर हाथ जोड़े तुम्हारा स्तवन कर रहे हैं। महर्षियों तथा सिद्धों के समुदाय 'स्वस्ति' (अर्थात् जगत् का कल्याण हो) ऐसा कहते हुए अनेकों स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। २१

जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य (नामक देवता), विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण और ऊष्मपा (नामक पितृगण) हैं, तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं वे सभी विस्मित होकर तुम्हें देख रहे हैं। २२

हे महाबाहो! तुम्हारे अनेक मुखों और नेत्रों वाले, अनेक भुजाओं, जंघाओं और चरणो वाले, अनेक उदरोंवाले एवं अनेक दाढ़ों के कारण विकराल महान् रूप को देखकर (समस्त) प्राणी (भय से) व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी (व्याकुल हो रहा हूँ)। २३

हे विष्णो! आकाश को छूनेवाले, प्रकाशमान, अनेक वर्णोंवाले, फैलाये हुए मुखोंवाले तथा ज्वलन्त विशाल नेत्रोंवाले तुमको देखकर ही अत्यन्त-व्याकुल-चित्त हुआ मैं धैर्य और शान्ति नहीं पा रहा हूँ। २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि-
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति*॥२८॥

* 'अभितो ज्वलन्ति' इति पाठान्तरम्।

दाढ़ों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के सदृश तुम्हारे मुखों को देखकर ही मैं दिशाओं को नहीं समझ पा रहा हूँ तथा सुख भी नहीं पा रहा हूँ। (इसलिए) हे देवेश! हे जगन्निवास! तुम प्रसन्न होओ। २५

धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र राजाओं के समुदायों के साथ तुममें (प्रवेश कर रहे हैं), तथा भीष्म, द्रोण और यह सूतपुत्र (कर्ण) हमारे (पक्ष के) भी प्रधान योद्धाओं के साथ – २६

वेग से (दौड़ते हुए) तुम्हारे दाढ़ों के कारण विकराल और भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। कोई कोई चूर्णित हुए मस्तकों के साथ तुम्हारे दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं। २७

जिस प्रकार नदियों के अनेक जलप्रवाह समुद्र की ओर ही दौड़ते है (अर्थात् समुद्र में ही प्रवेश करते हैं), उसी प्रकार वे मनुष्यलोक के वीरगण भी तुम्हारे प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

जिस प्रकार पतंगे नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेगवान् हो (दौड़ते हुए) प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग भी नष्ट होने के लिए तुम्हारे मुखों में अतिवेगवान् हो (दौड़ते हुए) प्रवेश कर रहे है। २९

तुम अपने प्रज्वलित मुखों से उन समस्त लोकों को निगलते हुए सब ओर से बार बार चाट रहे हो। हे विष्णो! तुम्हारी उग्र प्रभाएँ सम्पूर्ण जगत् को तेज से परिपूर्ण करती हुई तप्त कर रही हैं। ३०

मुझे बतलाओ कि उग्ररूपवाले तुम कौन हो। हे देवश्रेष्ठ! तुम्हें नमस्कार है। तुम प्रसन्न होओ। आदिस्वरूप तुमको मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ; क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवान् बोले –

मैं लोकों का क्षय करनेवाला अत्यधिक बढ़ा हुआ काल हूँ; यहाँ लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षियों की सेनाओं में जो योद्धागण स्थित हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे (अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी उनका नाश होगा ही)। ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर, और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये (सब वीर) मेरे ही द्वारा पहले ही मारे गये हैं; हे सव्यसाचिन्![१] तू केवल निमित्तमात्र हो। ३३

मेरे द्वारा मारे गये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण को तथा अन्य वीर योद्धाओं को भी तू मार ले। भय मत कर। तू रण में शत्रुओं को जीतेगा। अतः युद्ध कर। ३४

संजय बोला –

केशव के इस वचन को सुनकर किरीटी (अर्थात् अर्जुन) काँपता हुआ हाथ जोड़कर नमस्कार करके, फिर से भयभीत हो प्रणाम करके गद्गद होकर कृष्ण से बोला – ३५

अर्जुन बोला –

हे हृषीकेश! यह उचित ही है कि तुम्हारी कीर्ति से (अर्थात् तुम्हारी महिमा के कीर्तन से) जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है तथा अनुराग को प्राप्त हो रहा है; राक्षस लोग भयभीत हो (चारों) दिशाओं में भाग रहे हैं, तथा सब सिद्धों के समुदाय (तुम्हें) नमस्कार कर रहे हैं। ३६

---

१. बायें हाथ से भी वाण चलाने में समर्थ होने के कारण अर्जुन का एक नाम सव्यसाची है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

हे महात्मन्! ब्रह्मा से भी बड़े तुम आदिकर्ता को वे कैसे नमस्कार न करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत्, असत् एवं उनसे परे जो अक्षर है, वह तुम ही हो। ३७

तुम आदिदेव हो; पुराण (अर्थात् चिरन्तन) पुरुष हो; तुम ही इस विश्व के परम आधार हो। तुम जाननेवाले तथा जानने योग्य हो तथा परम धाम हो। हे अनन्तरूप! तुम्हारे द्वारा यह विश्व व्याप्त है। ३८

तुम वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति तथा पितामह (ब्रह्मा) के भी पिता हो। तुम्हें हजारों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो। फिर भी बार बार नमस्कार हो, नमस्कार हो। ३९

हे सर्वस्वरूप! तुम्हें आगे से और पीछे से भी नमस्कार है। तुम्हें सब ओर से भी नमस्कार हो। तुम अनन्त-सामर्थ्यशाली तथा अपरिमित-पराक्रमशाली हो। तुम सब (संसार) को व्याप्त किये हुए हो, इसलिए सर्वस्वरूप हो। ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्*।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

---

* 'गुरोर्गरीयान्' इति पाठान्तरम्।

तुम्हारी इस महिमा को न जानते हुए मेरे द्वारा, प्रमाद से या प्रेम से, तुम्हें सखा मानकर 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा' इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है – ४१

तथा जो तुम हँसी के लिए विहार, शयन, आसन और भोजन आदि में (मेरे द्वारा) अकेले में अथवा सामने अपमानित किये गये हो, हे अच्युत! उस (सब अपराध) को मैं अप्रमेयस्वरूप (अर्थात् बुद्धि आदि प्रमाणों से जिसका ग्रहण न हो ऐसे) तुमसे क्षमा करवाता हूँ। ४२

तुम इस चर-अचर विश्व के पिता हो, पूजनीय हो, गुरु और गुरु से भी अधिक हो। हे अतुलनीय-प्रभावशाली! तीनों लोकों में तुम्हारे समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है? ४३

इसलिए मैं शरीर को अवनत करते हुए प्रणाम करके स्तुति करने योग्य तुम ईश्वर को प्रसन्न करा रहा हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और प्रिय जैसे प्रिया के (अपराध) सहन करते हैं, वैसे ही तुमको भी (मेरा अपराध) सहन करना उचित है। ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

पहले न देखे गये (तुम्हारे इस रूप) को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और (साथ ही) मेरा मन भय से अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है। इसलिए हे देव! मुझे तुम वही रूप दिखाओ; हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होओ।
४५

मैं तुम्हें वैसे ही मुकुटधारी, गदाधारी और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! तुम उसी चतुर्भुज रूप से विराजमान होओ। ४६

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न हो अपने योग (के सामर्थ्य) से यह मेरा परम तेजोमय, आदिभूत, अन्तरहित विश्वात्मक रूप तुझे दिखाया है, जो (रूप) तेरे सिवा दूसरे किसी के द्वारा पहले नहीं देखा गया था। ४७

हे कुरुवीर! न वेदों के अध्ययन से, न यज्ञों के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही मनुष्यलोक में इस प्रकार रूपवाला मैं तेरे सिवा दूसरे किसी के द्वारा देखा जा सकता हूँ। ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।।५२।।

मेरे इस प्रकार के इस घोर रूप को देखकर तुझे व्याकुलता न हो और मूढ़भाव भी न हो। तू भयरहित तथा प्रसन्नचित्त होकर उसी मेरे इस रूप को फिर देख। ४९

संजय बोला –

वासुदेव ने अर्जुन से ऐसा कहकर फिर (उसे) वैसे अपने रूप को दिखलाया और उस महात्मा (श्रीकृष्ण) ने फिर सौम्यरूप होकर इस भयभीत (अर्जुन) को आश्वासन दिया। ५०

अर्जुन बोला –

हे जनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य मानुषरूप को देखकर अब मैं सचेत (अर्थात् स्वस्थचित्त) हुआ हूँ और अपनी प्रकृति को (अर्थात् स्वाभाविक स्थिति को) प्राप्त हुआ हूँ। ५१

श्रीभगवान् बोले –

मेरा जो रूप तूने देखा, वह अत्यन्त दुर्दर्श है (अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुःसाध्य हैं), देवता भी सर्वदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते हैं। ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा*॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः।

* 'यन्मम' इति पाठान्तरम्।

जिस प्रकार तूने मुझे देखा, इस प्रकार (रूपवाला) मैं न वेदों द्वारा, न तप द्वारा, न दान द्वारा और न यज्ञ द्वारा ही देखा जा सकता हूँ। ५३

परन्तु हे परन्तप अर्जुन! अनन्यभक्ति के द्वारा इस प्रकार (रूपवाला) मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ तथा प्राप्त भी किया जा सकता हूँ। ५४

हे पाण्डव! जो (मनुष्य) मेरे ही लिए कर्म करनेवाला है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्तिरहित है तथा समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है, वह मुझे ही प्राप्त होता है। ५५

ॐ तत् सत्
'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादशोऽध्यायः

(भक्तियोगः)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

बारहवाँ अध्याय

(भक्तियोग)

अर्जुन बोला –

इस प्रकार सततयुक्त होकर (अर्थात् निरन्तर तुममें लगे रहकर) जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं, और दूसरे जो अव्यक्त अक्षर की (उपासना करते है) – उन दोनों में श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन हैं? १

श्रीभगवान् बोले –

जो मुझमें मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त होकर (अर्थात् निरन्तर मुझमें लगे रहकर) परम श्रद्धा से युक्त हो मेरी उपासना करते हैं वे युक्ततम (अर्थात् श्रेष्ठतम योगी) हैं – ऐसा मैं मानता हूँ। २

परन्तु जो सब में समबुद्धि रखते हुए, समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हुए, इन्द्रियसमुदाय को भलीभाँति वश में करके, जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसे अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्तनीय, कूटस्थ[१] अचल एवं नित्य अक्षर की उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। ३-४

---

१. कूट यानी (१) माया, (२) राशि या ढेर, (३) पर्वतशिखर। तदनुसार कूटस्थ यानी (१) माया के अधिष्ठानरूप से स्थित, (२) ढेर की भाँति निष्क्रिय रूप से स्थित, (३) पर्वतशिखर की भाँति निश्चल, निर्विकार।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

उन अव्यक्त (ब्रह्म) में आसक्त चित्तवालों को (साधना में) अधिक क्लेश होता है; क्योंकि देहवानों को (अर्थात् देहाभिमानियों को) अव्यक्तविषयक गति कष्टपूर्वक प्राप्त होती है। ५

परन्तु जो समस्त कर्मों को मुझमें समर्पित करके, मेरे परायण होकर, अनन्य (भक्तिरूप) योग से मेरा ही ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, – ६

हे पार्थ! उन मुझमें समाहित चित्तवालों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार करनेवाला हो जाता हूँ। ७

तू मुझमें ही मन को स्थापित कर, मुझमें ही बुद्धि को निविष्ट कर। इसके पश्चात् (अर्थात् शरीर छोड़ने पर) तू मुझमें ही निवास करेगा – इसमें सन्देह नहीं है। ८

यदि तू चित्त को मुझमें स्थिररूप से स्थापित नहीं कर सकता तो, हे धनंजय! फिर अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर। ९

यदि तू अभ्यास (करने) में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे ही लिए कर्म करने के परायण हो। मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी तू सिद्धि (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होगा। १०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

परन्तु यदि तू ऐसा करने में भी असमर्थ है, तो फिर मेरे योग[२] का आश्रय लेकर संयतात्मा होकर सर्व कर्मों के फल का त्याग कर। ११

निश्चित ही अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है; (क्योंकि) त्याग से तुरन्त शान्ति होती है। १२

जो समस्त प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्रभाव से युक्त, और करुणावान् है, तथा ममत्वरहित, अहंकाररहित, सुख-दुःख में समभावयुक्त और क्षमावान् है, – १३

तथा जो निरन्तर सन्तुष्ट, योगी (अर्थात् समाहितचित्त) संयतात्मा, दृढ़निश्चयी, और मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १४

जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग (अर्थात् क्षुब्धता) को प्राप्त नहीं होता, और जो (स्वयं भी) किसी व्यक्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष (अर्थात् असहिष्णुता), भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

---

२. मद्योग अर्थात् मेरा योग – समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करके उनका अनुष्ठान करना।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।

जो आकांक्षा से रहित, (अन्तर्बाह्य) शुद्ध, कुशल, पक्षपातरहित, भय (या खेद) से रहित, तथा सब आरम्भों (अर्थात् काम्य कर्मों) का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १६

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है तथा जो शुभ और अशुभ (समस्त कर्मों) का त्यागी है – वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है। १७

जो शत्रु और मित्र में सम है, उसी प्रकार मान और अपमान में भी (सम है), तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) में सम और आसक्ति से रहित है, – १८

जो निन्दा और स्तुति को समान माननेवाला, मौनी, जिस किसी प्रकार से सन्तुष्ट, और निवासस्थान (अथवा उसके प्रति ममता और आसक्ति) से रहित और स्थिरबुद्धिवाला है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है। १९

परन्तु जो श्रद्धावान् और मेरे परायण हुए भक्त इस प्रकार कहे हुए धर्ममय अमृत का साधन करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। २०

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदशोऽध्यायः

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः)

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

तेरहवाँ अध्याय

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)

श्रीभगवान् बोले –

हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र'[1] कहा जाता है। इसको जो जानता है, उसे उस (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व) को जाननेवाले 'क्षेत्रज्ञ'[2] कहते हैं। १

हे भारत! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही (यथार्थ) ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है। २

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारों से युक्त है, तथा जिससे जो हुआ है; तथा वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो है, जिस प्रभाव से युक्त है – वह संक्षेप में मुझसे सुन। ३

(यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का तत्त्व) ऋषियों के द्वारा अनेक प्रकार से गाया (अर्थात् कहा) गया है; विविध वेदमन्त्रों द्वारा अलग करके (कहा गया है), तथा सुनिश्चित युक्तिपूर्ण ब्रह्मसूचक पदों द्वारा भी (कहा गया है)। ४

---

१. क्षेत्र – शरीर

२. क्षेत्रज्ञ – इस शरीर को 'मैं', 'मेरा' रूप से जाननेवाला शरीरी या जीवात्मा।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।

(पंच) महाभूत,[३] अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (मूल प्रकृति) भी तथा दस इन्द्रियाँ[४] और एक (अर्थात् मन), एवं पाँच इन्द्रियों के विषय[५], – ५

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात[६], चेतना[७] और धृति – (इस प्रकार) विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया। ६

अभिमानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमाभाव, सरलता, आचार्य की सेवा, (बाह्य-आभ्यन्तर) शुद्धि, (अन्तःकरण की) स्थिरता, आत्मविनिग्रह (अर्थात् शरीरादि का संयम), – ७

इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्य (अर्थात् आसक्ति का अभाव) तथा अहंकारशून्यता भी, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग (आदि) दुःखों में दोषों का बारम्बार देखना, – ८

---

३. पंचमहाभूत – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

४. दस इन्द्रियाँ – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका), और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, चरण, जिव्हा, पायु, उपस्थ)।

५. पाँच इन्द्रियविषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

६. संघात – देह और इन्द्रियों का समूह।

७. चेतना – देहेन्द्रियसंघात में प्रकाशित हुई अन्तःकरण की वृत्ति।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१२॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

अनासक्ति, पुत्र-पत्नी-गृह आदि में अभिष्वंग[८] का अभाव, प्रिय और अप्रिय (विषयों) की प्राप्ति में सदा समचित्तता, – ९

मुझमें अनन्ययोग[९] के द्वारा अव्यभिचारिणी (अर्थात् कभी विचलित न होनेवाली) भक्ति, एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव, (प्राकृत) जनों के समुदाय के प्रति प्रीति का अभाव, – १०

अध्यात्म (अर्थात् आत्मविषयक) ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थ (अर्थात् मोक्ष) का अवलोकन – यह ज्ञान कहा गया है, और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान (कहा गया) है। ११

जो ज्ञेय (अर्थात् जानने योग्य) है, तथा जिसे जानकर (मनुष्य) अमृतत्व (अर्थात् मोक्ष) को पा लेता है, उसे मैं भलीभाँति कहूँगा। वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् और न असत् ही कहा जाता है। १२

वह (ज्ञेय) सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला और सब ओर कानवाला है। वह लोकों में (अर्थात् प्राणिसमूह में) सब को व्याप्त करके अवस्थित है। १३

---

८. अभिष्वंग – अनन्य एकात्मभावना यानी मोहवश किसी विषय को स्वयं से अभिन्न एक समझना।

९. अनन्ययोग – परमात्मा के सिवा अन्य कोई भी नहीं है अतः वही मेरी परम गति है यह दृढ़ बोध।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

ज्योतिषामपि तज्जोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्*।।१७।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

---

* 'धिष्ठितम्' इति पाठान्तरम्।

(वह ज्ञेय) समस्त इन्द्रियों के गुणों से अवभासित (अर्थात् प्रकाशमान) होनेवाला है, सभी इन्द्रियों से रहित है, अनासक्त (होने पर भी) सब का धारण-पोषण करनेवाला है तथा निर्गुण (होने पर भी) गुणों का भोक्ता है। १४

वह (ज्ञेय) समस्त प्राणियों के बाहर-भीतर (पूर्ण) है; चर, अचर भी वही है; वह सूक्ष्म होने के कारण जानने का विषय नहीं है; वह दूर स्थित है और अति निकट भी। १५

वह ज्ञेय विभक्त न होकर भी प्राणियों में विभक्त-सा स्थित (प्रतीत होता) है; वह प्राणियों का धारण-पोषण करनेवाला, संहार करनेवाला तथा सृष्टि करनेवाला है। १६

वह (ज्ञेय) ज्योतियों की भी ज्योति है तथा (अज्ञानरूप) अन्धकार के परे कहा जाता है। ज्ञान,[१०] ज्ञेय[११] तथा ज्ञानगम्य[१२] (अर्थात् ज्ञान के द्वारा लभ्य) वही है; तथा वह (सब के) हृदय में अधिष्ठित है। १७

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे गये। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को (अर्थात् स्वरूप को) प्राप्त होता है। १८

---

१०. ज्ञान – क्रमांक ७ से ११ तक के श्लोकों में वर्णित ज्ञानसाधन।

११. ज्ञेय – क्रमांक १२ से १७ तक के श्लोकों में वर्णित ब्रह्म।

१२. ज्ञानगम्य – ज्ञान के द्वारा लभ्य ब्रह्म। ज्ञेय ही ज्ञात हो जाने पर ज्ञानगम्य कहा जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१९।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही तू अनादि जान। तथा विकारों[१३] को और गुणों[१४] को प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान। १९

प्रकृति कार्य[१५] और करण[१६] के (द्वारा होनेवाली क्रियाओं के) कर्तापन में हेतु कही जाती है और पुरुष (अर्थात् जीवात्मा) सुख-दुःखों के भोक्तापन में हेतु कहा जाता है। २०

क्योंकि पुरुष (अर्थात् जीवात्मा) प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है तथा इन गुणों का संग (अर्थात् गुणों के प्रति आसक्ति) ही इस (पुरुष) के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है। २१

इस देह में (स्थित) परम पुरुष ही उपद्रष्टा (अर्थात् समीप से साक्षिवत् देखनेवाला), अनुमन्ता (अर्थात् अनुमोदन करनेवाला), भर्ता (अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला), भोक्ता (अर्थात् भोगनेवाला), महेश्वर तथा परमात्मा – इस प्रकार भी कहा गया है। २२

जो पुरुष को तथा गुणों के सहित प्रकृति को इस प्रकार जानता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी (इस शरीर के नष्ट होने के बाद) फिर नहीं जन्मता। २३

---

१३. विकार – देह, इन्द्रिय आदि। १४. गुण – सत्त्व, रज, तम ये गुण तथा उनके परिणाम सुख, दुःख, मोह आदि। १५. कार्य – शरीर। १६. करण – इन्द्रियाँ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥३०॥

कोई ध्यान के द्वारा आत्मा में (अर्थात् बुद्धि में) आत्मा से (अर्थात् शुद्ध अन्त:करण से) (परम) आत्मा को देखते हैं; अन्य ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे कर्मयोग के द्वारा (देखते हैं)। २४

परन्तु दूसरे इस प्रकार (आत्मतत्त्व को) न जानते हुए दूसरों से सुनकर (तदनुसार) उपासना करते हैं – और वे श्रवणपरायण व्यक्ति भी मृत्यु को तर ही जाते हैं। २५

हे भरतश्रेष्ठ! जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही (उत्पन्न होता) है – ऐसा तू जान। २६

समस्त विनाशशील प्राणियों में समभाव से स्थित, विनाशरहित परमेश्वर को जो देखता है वही (यथार्थत:) देखता है। २७

क्योंकि सर्वत्र समभाव से अवस्थित ईश्वर को समरूप से देखनेवाला अपने द्वारा अपने को नहीं मारता, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है। २८

जो समस्त कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये जाते हुए देखता है तथा अपने को अकर्ता देखता है, वही (यथार्थ) देखता है। २९

जिस समय (मनुष्य) प्राणियों के अलग अलग भावों को एक (आत्मा) में ही स्थित देखता है, तथा सारा विस्तार उस (आत्मा) से ही हुआ देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ३०

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशनशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अनादि होने के कारण तथा निर्गुण होने के कारण यह परमात्मा अव्यय है। हे कौन्तेय! शरीर में स्थित होता हुआ भी यह (वास्तव में) न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। ३१

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त (होता हुआ भी) आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देह में सर्वत्र अवस्थित रहता हुआ भी आत्मा (देह के गुणधर्मों से) लिप्त नहीं होता। ३२

हे भरतवंशी! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस समस्त लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही क्षेत्री (अर्थात् क्षेत्रज्ञ परमात्मा) समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ३३

जो इस प्रकार ज्ञाननेत्रों द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूतप्रकृतिमोक्ष को (अर्थात् भूतों की अविद्यारूप प्रकृति के मिथ्यात्व को) जानते हैं, वे परम (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं। ३४

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्दशोऽध्यायः

(गुणत्रयविभागयोगः)

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

चौदहवाँ अध्याय

(गुणत्रयविभागयोग)

श्रीभगवान् बोले –

(समस्त) ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनिजन इस (संसारबन्धन) से (मुक्त होकर) परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। १

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी स्वरूपता को प्राप्त हुए (मनुष्य) सृष्टिकाल में भी (पुनः) उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलयकाल में व्यथित नहीं होते। २

हे भारत! महत्-ब्रह्म (अर्थात् त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति) मेरी योनि (अर्थात् गर्भाधान का स्थान) है। उसमें मैं गर्भ (अर्थात् सृष्टि के बीज) को स्थापित करता हूँ। उस (गर्भाधान) से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ३

हे कौन्तेय! समस्त योनियों में जो मूर्तियाँ (अर्थात् शरीराकार अभिव्यक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं, महत्-ब्रह्म (अर्थात् त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति) उन सब की योनि (अर्थात् गर्भधारिणी माता) है और मैं बीजप्रदाता (अर्थात् गर्भाधानकर्ता) पिता हूँ। ४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

हे महाबाहो! सत्त्व-रज-तम ये प्रकृति से उत्पन्न (तीन) गुण अव्यय देही (अर्थात् जीवात्मा) को देह में बाँधते है। ५

हे निष्पाप! उन (गुणों) में सत्त्व निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला और दोषरहित है। (वह) सुख की आसक्ति द्वारा और ज्ञान की आसक्ति द्वारा बाँधता है।[१] ६

हे कौन्तेय! रजोगुण को तू रागरूप (अर्थात् रँगानेवाला) तथा तृष्णा[२] और आसंग[३] से उत्पन्न हुआ जान। वह इस देही (अर्थात् जीवात्मा) को कर्मों की आसक्ति के द्वारा बाँधता है। ७

हे भारत! तमोगुण को तू अज्ञान से उत्पन्न तथा समस्त देहधारियों को मोहित करनेवाला जान। वह प्रमाद (अर्थात् भ्रम या असावधानी), आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है। ८

हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है और रजोगुण कर्म में, तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छन्न करके प्रमाद में लगाता है। ९

---

१. सुख और ज्ञान ये अन्त:करण के यानी क्षेत्र के धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ आत्मा के नहीं। परन्तु सत्त्वगुण के कारण इन धर्मों का आत्मा पर आरोप हो जाता है और जीव 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ' इस प्रकार आसक्ति से आबद्ध हो जाता है।

२. तृष्णा – अप्राप्य विषय की अभिलाषा।

३. आसंग – प्राप्त विषय में मन की प्रीति।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

हे भारत! सत्त्वगुण रजोगुण को और तमोगुण को दबाकर (प्रबल) होता है; रजोगुण सत्त्वगुण को और तमोगुण को तथा उसी प्रकार तमोगुण सत्त्वगुण को और रजोगुण को (दबाकर प्रबल होता है)। १०

जिस समय इस देह में समस्त (इन्द्रिय) द्वारों में ज्ञान (रूप) प्रकाश उत्पन्न होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण वर्धित हुआ है। ११

हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण के वर्धित होने पर लोभ, प्रवृत्ति (अर्थात् कर्म करने की इच्छा), कर्मों का आरम्भ, अशान्ति तथा स्पृहा (अर्थात् विषयकामना) – ये सब उत्पन्न होते हैं। १२

हे कुरुनन्दन! तमोगुण के वर्धित होने पर अप्रकाश (अर्थात् अविवेकरूप अन्धकार), अप्रवृत्ति (अर्थात् कर्तव्य कर्मों में अनुद्यम या आलस्य), प्रमाद (अर्थात् असावधानी) तथा मोह (अर्थात् मूढ़ता) – ये सब उत्पन्न होते हैं। १३

जब देहधारी (जीव) सत्त्वगुण के वृद्धि प्राप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है तब (वह) उत्तम (तत्त्वों) को जाननेवालों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है। १४

रजोगुण (की वृद्धि) में मृत्यु प्राप्त होकर (वह) कर्मासक्तों में (अर्थात् कर्मों की आसक्तिवाले मनुष्यों के लोक में) जन्मता है तथा तमोगुण (की वृद्धि) में मृत हुआ (वह) मूढ़ योनियों में (अर्थात् कीट-पशु आदि योनियों में) जन्मता है। १५

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

पुण्य कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहा है; राजस (कर्म) का फल दुःख तथा तामस (कर्म) का फल अज्ञान (कहा है)। १६

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा रजोगुण से लोभ ही (उत्पन्न होता है)। तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं तथा अज्ञान भी (उत्पन्न होता है)। १७

सत्त्वगुण में स्थित लोग ऊपर (अर्थात् उच्च लोकों में) जाते हैं; राजसी लोग बीच में (अर्थात् मनुष्यलोक में ही) रहते हैं; तथा निकृष्ट गुण के आचरणों में स्थित तामसी लोग नीचे (अर्थात् पशु आदि योनियों में) जाते हैं। १८

जब द्रष्टा (इन तीन) गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता[४] तथा (इन तीन) गुणों से परे (परमात्मा) को जानता है, (तब) वह मेरे भाव (अर्थात् स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है। १९

देह की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीन गुणों का अतिक्रमण करके देही (अर्थात् जीव) जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुआ अमृत (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होता है। २०

---

४. अर्थात् जब द्रष्टा यही देखता है कि प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न देह-इन्द्रिय आदि ही कर्म करते हैं – आत्मा निष्क्रिय है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

अर्जुन बोला –

हे प्रभो! इन तीन गुणों से अतीत हुआ मनुष्य किन किन लक्षणों से युक्त होता है, कैसे आचरणोंवाला (होता है), तथा (वह) किस प्रकार इन तीन गुणों का अतिक्रमण करता है? २१

श्रीभगवान् बोले –

हे पाण्डव! (जो) प्रकाश[५], प्रवृत्ति[६] और मोह[७] के प्रवृत्त होने पर (उनसे) द्वेष नहीं करता तथा (उनके) निवृत्त होने पर (उनकी) आकांक्षा नहीं करता, – २२

जो उदासीन की तरह स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही (गुणों में) बरत रहे है[८] ऐसा जानकर जो स्थिर अवस्थित रहता है, और चंचल नहीं होता, – २३

जो दुःख और सुख को सम माननेवाला है, स्व(रूप) में स्थित है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में सम भाववाला है, प्रिय और अप्रिय को समान माननेवाला है, अपनी निन्दा और स्तुति में भी सम बुद्धिवाला और धीर (अर्थात् विवेकी) है, – २४

---

५. प्रकाश यानी ज्ञान सत्त्वगुण का कार्य है।

६. प्रवृत्ति यानी कार्यप्रवणता रजोगुण का कार्य है।

७. मोह यानी अज्ञान तमोगुण का कार्य है।

८. गुण ही गुणों में बरत रहे हैं यानी प्रकृति के गुणों से उत्पन्नअन्तःकरणसहित इन्द्रियाँ गुणों से ही उत्पन्न विषयों में विचर रही हैं।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

जो मान और अपमान में सम है, मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में सम है, सब (प्रकार के) आरम्भों (अर्थात् कर्मों) को त्यागनेवाला है – वह गुणातीत कहा जाता है। २५

और जो अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मुझे भजता है, वह इन (तीन) गुणों का पूर्णतया अतिक्रमण करके ब्रह्मरूप होने के लिए योग्य बन जाता है। २६

क्योंकि मैं ही उस अव्यय, अमृत ब्रह्म की प्रतिष्ठा (अर्थात् आश्रय) हूँ तथा नित्यधर्म की एवं ऐकान्तिक सुख की भी (प्रतिष्ठा हूँ)। २७

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चदशोऽध्यायः

(पुरुषोत्तमयोगः)

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥३॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

(पुरुषोत्तमयोग)

श्रीभगवान् बोले –

ऊपर मूलवाले और नीचे शाखाओंवाले (जिस संसाररूप) अश्वत्थ (अर्थात् पीपल के वृक्ष) को अव्यय कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते (कहे गये) है, उसको जो जानता है, वह वेदज्ञ (अर्थात् वेद के तात्पर्य को जाननेवाला) है। १

उस (संसारवृक्ष) की (तीन) गुणों द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयरूप कोंपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर (सब ओर) फैली हुई हैं। तथा कर्मानुबन्धी (अर्थात् कर्म का उत्पादन करनेवाली) जड़ें नीचे मनुष्यलोक में फैली हुई हैं। २

यहाँ इस (संसारवृक्ष) का स्वरूप (जैसा वर्णित है) वैसा उपलब्ध नहीं होता। इसका न अन्त, न आदि और न इसकी सम्यक् स्थिति ही (उपलब्ध होती है)। इस अति दृढ़ मूलोंवाले पीपल के वृक्ष को दृढ़ असंगरूप (अर्थात् वैराग्यरूप) शस्त्र के द्वारा काटकर, – ३

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

तत्पश्चात् उस (परम)पद का अन्वेषण करना चाहिए, जिसमें गये हुए मनुष्य फिर (संसार में) नहीं लौटते। और जिससे (इस संसार की) चिरन्तन प्रवृत्ति फैली है, उसी आदिपुरुष की मैं शरण लेता हूँ (– इस
भाव से अन्वेषण करना चाहिए)। ४

जो मान और मोह से रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थित है, जिनकी कामनाएँ पूर्णतया निवृत्त हो गयी हैं, जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गये हैं, ऐसे अमूढ़ (अर्थात् विवेकी) जन उस अव्यय पद को प्राप्त
होते हैं। ५

उस (पद) को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही। जिसको प्राप्त होने पर (मनुष्य संसार में) नहीं लौटते, वही
मेरा परम धाम है। ६

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक (अर्थात् संसार) में जीवरूप हुआ (देह को छोड़ते समय) प्रकृति में स्थित मन और पंच इन्द्रियों को
आकर्षित करता है। ७

ईश्वर (अर्थात् शरीरादि का स्वामी जीवात्मा) जब उत्क्रमण करता है (अर्थात् शरीर को छोड़कर निकल जाता है) तथा जब (दूसरे) शरीर को प्राप्त होता है, तो इन (मनसहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके जाता
है – जैसे वायु गन्ध के आधार से गन्ध को लेकर जाती है। ८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

यह (जीवात्मा) कर्ण, नेत्र, त्वचा, रसना, नासिका तथा मन को भी आश्रय करके (शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध – इन पाँच) विषयों का उपभोग करता है। ९

उत्क्रमण करते हुए (अर्थात् शरीर को छोड़कर जाते हुए), अथवा (शरीर में) स्थित हुए, अथवा (विषयों को) भोगते हुए – (इस प्रकार) गुणों से युक्त होते हुए भी (इस जीवात्मा को) मूढ़ लोग नहीं देख पाते; (किन्तु) ज्ञानरूप नेत्रोंवाले (विवेकी लोग) देख पाते हैं। १०

यत्न करनेवाले योगीजन इस (आत्मा) को आत्मा में (अर्थात् अपने हृदय में) अवस्थित देखते हैं; किन्तु अकृतात्मा (अर्थात् जिन्होंने अपने अन्त:करण को शुद्ध नहीं किया है ऐसे) अविवेकी लोग तो यत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते। ११

सूर्य में स्थित जो तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है, और जो अग्नि में है – उस तेज को तू मेरा ही जान। १२

मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने ओज (अर्थात् बल) के द्वारा समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ तथा रसात्मक (अर्थात् अमृतमय) चन्द्रमा बनकर समस्त औषधियों (अर्थात् वनस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ। १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

मैं वैश्वानर (अर्थात् जठराग्नि) बनकर प्राणियों की देह में स्थित हुआ प्राण और अपान से संयुक्त हो चार प्रकार[१] के अन्न को पचाता हूँ। १४

मैं सब के हृदय में (अन्तर्यामीरूप से) प्रविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (अर्थात् उन दोनों का लोप) होता है। समस्त वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्त का निर्माण करनेवाला तथा वेदों (के अर्थ) को जाननेवाला भी मैं ही हूँ १५

संसार में क्षर (अर्थात् विनाशशील) तथा अक्षर (अर्थात् अविनाशी) ये दो ही (प्रकार के) पुरुष हैं। (इनमें) समस्त प्राणी क्षर हैं और कूटस्थ (अर्थात् मायाशक्ति या जीवात्मा) ही अक्षर कहा जाता है। १६

उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो कि परमात्मा नाम से कहा गया है, तथा जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर (उनका) धारण-पोषण करता है। १७

क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए मैं लोक में तथा वेदों में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। १८

---

१. चर्व्य (या भक्ष्य) – चबाकर खाया जानेवाला; २. चोष्य – चूसा जानेवाला; ३. लेह्य – चाटा जानेवाला; ४. पेय (या भोज्य) – पीया या निगला जानेवाला।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः

हे भारत! जो मोहरहित होकर इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम (रूप से) जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मुझको ही भजता है। १९

हे निष्पाप! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। हे भारत! इसे जानकर (मनुष्य) ज्ञानवान् तथा कृतार्थ हो जाता है। २०

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षोडशोऽध्यायः

(दैवासुरसम्पद्विभागयोगः)

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

सोलहवाँ अध्याय

(दैवासुरसंपद्विभागयोग)

श्रीभगवान् बोले -

निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान एवं योग में दृढ़ स्थिति[१], दान, (इन्द्रियों का) दमन, यज्ञ, स्वाध्याय (अर्थात् वेदादि शास्त्रों का अध्ययन), तप तथा सरलता (या सीधापन), - १

अहिंसा, सत्यवचन, क्रोधहीनता, त्याग, शान्ति, परनिन्दावर्जन, भूतों के प्रति दया, लोभराहित्य, मृदुता, (कुकर्मों में) लज्जा तथा चपलता का अभाव, - २

तेजस्विता, क्षमा, धीरता, (बाहरी और भीतरी) शुचिता, द्रोहराहित्य (अर्थात् वैरभाव का अभाव), अतिमानीपन का अभाव - ये (लक्षण) हे भरतवंशी! दैवी सम्पत्ति को लेकर जन्मे हुए मनुष्य के होते हैं। ३

---

१. ज्ञान - शास्त्र तथा आचार्य द्वारा ब्रह्मवस्तु की अवगति। योग - इन्द्रियसंयम, चित्तैकाग्रता आदि द्वारा अवगत वस्तु के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न। ज्ञान-योग-व्यवस्थिति - उपरोक्त ज्ञान और योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति या निष्ठा।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च* क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

---

* 'दर्पोऽतिमानश्च' इति पाठान्तरम्।

दम्भ (अर्थात् पाखण्डीपन), दर्प (अर्थात् गर्व) और अभिमान (अर्थात् अहंकार) तथा क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान भी – ये (लक्षण), हे पार्थ! आसुरी सम्पत्ति को लेकर जन्मे हुए मनुष्य के होते हैं। ४

दैवी सम्पत्ति मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिए मानी गयी है। हे पाण्डव! शोक मत कर – तू दैवी सम्पत्ति को लेकर जन्मा है। ५

इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो ही प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है। (उनमें से) दैवी (सृष्टि) तो विस्तारपूर्वक कही गयी, (अब) हे पार्थ! तू मुझ से आसुरी (सृष्टि) सुन। ६

आसुरी (स्वभाववाले) लोग प्रवृत्ति[२] और निवृत्ति[३] (दोनों) को नहीं जानते। उनमें न पावित्र्य होता है, न सदाचरण और न सत्य (व्यवहार) ही। ७

वे (आसुरी स्वभाववाले लोग) कहते हैं कि जगत् झूठ (अर्थात् मिथ्या व्यवहार से पूर्ण), आधाररहित और ईश्वररहित है, स्त्री-पुरुष (के संयोग) से उत्पन्न हुआ है; कामहेतुक है (अर्थात् काम ही इसका कारण है); दूसरा और क्या है? ८

---

२. प्रवृत्ति – सत्कर्म या धर्म में प्रवृत्त होना।

३. निवृत्ति – असत्कर्म या अधर्म से निवृत्त होना।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं* प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

---

* 'लब्धमिदं' इति पाठान्तरम्।

इस दृष्टि का आश्रय लेकर नष्ट स्वभाव तथा अल्प बुद्धि से युक्त क्रूर कर्म करनेवाले, अहितकर मनुष्य जगत् के विनाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं। ९

कभी पूर्ण न होनेवाली कामना का आश्रय लेकर ये दम्भ, मान और मद से युक्त हुए लोग मोह से मिथ्या आग्रहों को ग्रहण करके अशुद्ध आचरण वाले बनकर (संसार में) बरतते हैं। १०

(वे) मरणपर्यन्त रहनेवाली अगणनीय चिन्ताओं का आश्रय लिये कामोपभोग के परायण तथा 'इतना ही (परमपुरुषार्थ) है' ऐसा निश्चय रखनेवाले होते हैं। ११

आशारूप सैकड़ों पाशों से बँधे, काम-क्रोध के परायण हुए वे कामभोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनसंचय की चेष्टा करते हैं। १२

(वे सोचा करते हैं –) आज मैंने यह प्राप्त किया है, (अब) इस अभिलषित वस्तु को प्राप्त करूँगा। यह धन मेरे पास है, फिर यह और भी प्राप्त हो जाएगा। १३

वह शत्रु तो मेरे द्वारा मारा गया, (अब) दूसरों को भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् तथा सुखी हूँ। १४

मैं धनवान् और उच्चकुलवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनन्द मनाऊँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए, – १५

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

तथा अनेक प्रकार से भ्रान्तचित्त हुए, मोहजाल से आच्छादित एवं कामोपभोगों में अत्यन्त आसक्त लोग अपवित्र नरक में पतित होते हैं। १६

अपने को (आप ही) श्रेष्ठ माननेवाले, विनयरहित, धन के अभिमान और मद से युक्त वे लोग केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्डपन से विधिरहित यजन किया करते हैं। १७

वे अहंकार[४], बल[५], दर्प[६], काम तथा क्रोध का आश्रय लेते हुए अपने और पराये शरीर में (स्थित) मुझ (ईश्वर) से द्वेष करनेवाले तथा ईर्ष्या करनेवाले होते हैं। १८

उन द्वेष करनेवाले, अमंगल और क्रूर नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ। १९

हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग जन्म जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हुए मुझको प्राप्त न होकर ही फिर उससे भी अधम गति को प्राप्त होते हैं। २०

---

४. अहंकार – हम हम करने का भाव जिसके कारण मनुष्य अपने में आरोपित किये हुए विद्यमान और अविद्यमान गुणों से अपने को युक्त मानता है।

५. बल – कामना और आसक्ति से युक्त दूसरे को पीड़ा पहुँचानेवाला बल।

६. दर्प – जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य धर्म का उल्लंघन कर जाता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः*।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।

---

* 'कामचारतः' इति पाठान्तरम्।

काम, क्रोध तथा लोभ – ये आत्मा का नाश करनेवाले तीन प्रकार के नरक(प्राप्ति) के द्वार हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए। २१

हे कौन्तेय! इन तीनों तमोरूप (नरक के) द्वारों से मुक्त हुआ मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है और इससे परमगति को प्राप्त हो जाता है। २२

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर कामना से (प्रयुक्त हुआ) बरतता है, वह न सिद्धि (अर्थात् पुरुषार्थ की योग्यता) को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही। २३

इसलिए तेरे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। तू शास्त्रविधान से कथित (व्यवस्था) को जानकर इस लोक में कर्म करने के योग्य है। २४

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदशोऽध्यायः

(श्रद्धात्रयविभागयोगः)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

सत्रहवाँ अध्याय

(श्रद्धात्रयविभागयोग)

अर्जुन बोला –

हे कृष्ण! जो शास्त्रविधि को छोड़कर (परन्तु) श्रद्धा से युक्त होकर (देवादि का) पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी है? – सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक? १

श्रीभगवान् बोले –

देहधारियों की वह स्वभावजनित* श्रद्धा सात्त्विक, राजसिक और तामसिक – ऐसे तीन प्रकार की होती है। उसे तू सुन। २

हे भारत! सब की श्रद्धा (उनके) सत्त्व के (अर्थात् विशिष्ट संस्कारयुक्त अन्तःकरण के) अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धावाला है, वह वही है (अर्थात् उसी श्रद्धा के अनुरूप है)। ३

सात्त्विक लोग देवों को पूजते है, राजसिक यक्ष-राक्षसों को (पूजते है) तथा दूसरे तामसिक लोग प्रेतों और भूतगणों को पूजते है।४

---

* स्वभावजा श्रद्धा – पूर्व पूर्व जन्मों में किये कर्मों के संचित संस्कारों को स्वभाव कहा जाता है। उस स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा स्वभावजा श्रद्धा कहलाती है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

दम्भ और अहंकार से युक्त हुए तथा कामना, आसक्ति और बल से युक्त हुए जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं, – ५

(जो) अविवेकी लोग शरीर में स्थित भूतग्राम को (अर्थात् इन्द्रियसमुदाय को) तथा अन्तःकरण में स्थित मुझ (परमात्मा) को भी कृश करनेवाले होते हैं, उन्हें तू आसुरी निश्चयवाले जान। ६

भोजन भी सब को तीन प्रकार का प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप, दान भी (तीन प्रकार के होते हैं)। उन (सब) के इस भेद को तू सुन। ७

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता को बढ़ानेवाले रसयुक्त, स्निग्ध (अर्थात् चिकने), स्थिर (अर्थात् शरीर में बहुत समय तक साररूप में बने रहनेवाले) तथा हृदय को प्रिय ऐसे खाद्यपदार्थ सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं। ८

कड़ुए, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले खाद्यपदार्थ राजसिक व्यक्ति को प्रिय होते हैं। ९

जो भोजन बहुत समय पहले पकाया हुआ है, जिसका रस सूख गया है, ज़ो सड़ा और बासी है तथा जो जूठा और अमेध्य (अर्थात् यज्ञ के लिए अयोग्य) है, वह तामसिक व्यक्ति को प्रिय होता है। १०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो* य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

---

* 'विधिदिष्टो' इति पाठान्तरम्।

फल की इच्छा न रखनेवाले व्यक्तियों द्वारा 'यज्ञ करना कर्तव्य ही है' इस प्रकार मन को स्थिर करके (शास्त्र)विधि से निर्दिष्ट जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है। ११

परन्तु फल को लक्ष्य बनाकर तथा पाखण्ड (रचाने) के लिए ही जो (यज्ञ) किया जाता है उस यज्ञ को, हे भरतश्रेष्ठ! तू राजसिक जान। १२

(शास्त्र)विधि से रहित, अन्नदान से रहित, मन्त्रों से रहित, दक्षिणा से रहित और श्रद्धा से रहित यज्ञ को तामसिक कहते हैं। १३

देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानी जनों का पूजन, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा – यह शारीर (अर्थात् शरीरसम्बन्धी या शारीरिक) तप कहलाता है। १४

जो उद्वेग उत्पन्न न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकर वचन है तथा जो स्वाध्याय (अर्थात् वेदादि शास्त्रों का अध्ययन) और (जपादि का) अभ्यास है – वही वाङ्मय (अर्थात् वाणीसम्बन्धी या वाचिक) तप कहलाता है। १५

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन (अर्थात् वाक्संयम), आत्मविनिग्रह (अर्थात् मन का संयम) और भावसंशुद्धि (अर्थात् भावों की अत्यन्त पवित्रता) – यह मानस (अर्थात् मनसम्बन्धी या मानसिक) तप कहा जाता है। १६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

फल की इच्छा न रखनेवाले, युक्त (अर्थात् समाहितचित्त) पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये गये उस तीन प्रकार के तप को सात्त्विक (तप) कहते हैं। १७

जो सत्कार, सम्मान और पूजन (पाने) के लिए तथा पाखण्ड से ही किया जाता है वह अस्थायी और अनिश्चित (फलवाला) तप इस लोक में राजसिक कहा गया है। १८

मूढ़तापूर्वक दुराग्रह से, स्वयं (के शरीर) को पीड़ा देकर अथवा दूसरे के विनाश के लिए जो तप किया जाता है, वह तामसिक कहा गया है। १९

दान देना कर्तव्य है इस प्रकार (भाव से) जो दान (सुयोग्य) देश, काल तथा पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करनेवाले के प्रति (अर्थात् प्रत्युपकार की आशा न रखते हुए) दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है। २०

परन्तु जो प्रत्युपकार (पाने) के लिए अथवा फल के उद्देश्य से, फिर क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजसिक कहा गया है। २१

जो दान अयोग्य देश-काल में और अपात्रों को बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, वह तामसिक कहा गया है। २२

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन* वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

* 'ब्रह्मणा तेन' इति पाठान्तरम्।

'ॐ तत् सत्' – यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश (अर्थात् नाम) कहा गया है। इसी के द्वारा पहले (अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में) ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ निर्मित हुए। २३

इसलिए 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करके ब्रह्मवादियों की (अर्थात् वेदवादियों की) (शास्त्र) विधि से कही यज्ञ-दान-तपरूप क्रियाएँ सदा आरम्भ होती हैं। २४

'तत्' इस प्रकार उच्चारण करके मोक्षकामियों के द्वारा फल को न चाहकर अनेकविध यज्ञ-तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं। २५

'सत्' यह सद्भाव (अर्थात् अस्तित्वभाव) और साधुभाव (अर्थात् श्रेष्ठत्वभाव) में प्रयोग किया जाता हैं। उसी प्रकार हे पार्थ! शुभ कर्मों में भी सत् शब्द प्रयुक्त होता है। २६

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति (अर्थात् निष्ठा) है वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है। उसके लिए (अर्थात् उन यज्ञ-तप-दान के लिए अथवा परमात्मा के लिए) किया गया कर्म भी 'सत्' इस प्रकार ही कहा जाता है। २७

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

जो अश्रद्धापूर्वक किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप, तथा किया हुआ (और भी जो कुछ कर्म) है, वह (सब) हे पार्थ! 'असत्' इस प्रकार कहा जाता है। वह न तो इस लोक में और न मरने के पश्चात् ही (फलदायक होता) है। २८

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र'रूप श्रीमद्‌भगवद्‌गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टादशोऽध्यायः

(मोक्षसंन्यासयोगः)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

अठारहवाँ अध्याय

(मोक्षसंन्यासयोग)

अर्जुन बोला –

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन (अर्थात् केशी नामक असुर के संहारक)! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को अलग अलग जानना चाहता हूँ। १

श्रीभगवान् बोले –

पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा ज्ञानीगण समस्त कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। २

कई विद्वान् कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त है इसलिए त्यागने योग्य है और दूसरे (विद्वान्) कहते हैं कि यज्ञ-, दान-, एवं तप-रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है। ३

हे भरतसत्तम (अर्थात् भरतवंशियों में साधुतम)! इस त्याग (के विषय) में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। ४

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

यज्ञ-, दान-, एवं तप-रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है, वह तो करणीय ही है; (क्योंकि) यज्ञ, दान एवं तप ही मनीषियों[१] को पवित्र करनेवाले हैं। ५

किन्तु हे पार्थ! ये कर्म भी आसक्ति और फलों को छोड़कर ही किये जाने चाहिए – यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है। ६

नियत (अर्थात् शास्त्रविहित) कर्म का तो त्याग नहीं बन सकता। मोह के कारण किया हुआ उसका त्याग तामस (त्याग) कहा गया है। ७

'जो कुछ कर्म है वह दुःख ही है' इस प्रकार (समझकर यदि कोई) शारीरिक कष्ट के भय से (कर्म को) त्याग दे, तो वह (ऐसा) राजस त्याग करके त्याग के फल को (कभी) नहीं पाएगा। ८

हे अर्जुन! 'कर्तव्य ही है' इस प्रकार (समझकर) जो नियत (अर्थात् शास्त्रविहित) कर्म आसक्ति तथा फल को त्यागकर ही किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है। ९

सत्त्वगुण से युक्त, बुद्धिमान् तथा संशयरहित त्यागी (मनुष्य) अकुशल (अर्थात् अशुभ या काम्य) कर्म से द्वेष नहीं करता तथा कुशल (अर्थात् शुभ या नित्य) कर्म में आसक्त नहीं होता। १०

---

१. यहाँ मनीषी का अर्थ है फलाकांक्षा और आसक्ति को छोड़कर ईश्वर के लिए कर्म करनेवाला विद्वान्।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

क्योंकि देहधारी (अर्थात् देह में अभिमान रखनेवाले व्यक्ति) के द्वारा सम्पूर्णतया (समस्त) कर्मों का त्याग किया जाना सम्भव नहीं है; इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है – ऐसा कहा जाता है। ११

(कर्मफल का) त्याग न करनेवालों के कर्मों का अनिष्ट[२] (अर्थात् बुरा), इष्ट[३] (अर्थात् अच्छा) तथा मिश्र[४] (अर्थात् दोनों मिला हुआ) ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के उपरान्त होता है; किन्तु संन्यासियों (अर्थात् कर्मफल का त्याग करनेवालों) के (कर्मों का फल) कभी नहीं होता। १२

हे महाबाहो! कर्मसमाप्तिरूप[५] सांख्य[६] में (अर्थात् वेदान्तशास्त्र में) समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए कहे गये इन पाँच कारणों (अर्थात् साधनों) को तू मुझसे जान। १३

---

२. पशुयोनिरूप ३. देवयोनिरूप ४. मनुष्ययोनिरूप

५. कृतान्त – जिसमें समस्त कर्मकाण्ड की समाप्ति हो जाती है।

६. सांख्य – जिसमें ज्ञातव्य पदार्थों की संख्या यानी गणना की जाए वह सांख्य है। यहाँ पर सांख्य का तात्पर्य वेदान्तशास्त्र से है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

यहाँ (अर्थात् इस कर्मों की सिद्धि के विषय में) अधिष्ठान[७], कर्ता[८], विभिन्न प्रकार के करण[९], विविध प्रकार की अलग अलग चेष्टाएँ[१०] और उसी प्रकार पाँचवाँ (हेतु) दैव[११] है। १४

मनुष्य शरीर, वाणी और मन के द्वारा न्याययुक्त (अर्थात् शास्त्रविहित) अथवा विपरीत (अर्थात् अशास्त्रीय) जो भी कर्म करता है, उसके ये पाँच हेतु (अर्थात् कारण) हैं। १५

परन्तु ऐसा होने पर भी जो (मनुष्य) असंस्कृत बुद्धि के कारण केवल (अर्थात् विशुद्ध) आत्मा को कर्ता (के रूप में) देखता है, वह दुर्मति (वास्तव में) नहीं देखता। १६

जिसमें अहंकृत (अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार) भाव नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल में) लिप्त नहीं होती, वह इन (समस्त) प्राणियों को मारकर भी (वास्तव में) नहीं मारता है और न (पाप से) बद्ध ही होता है। १७

---

७. अधिष्ठान – शरीर। ८. कर्ता – अहंकार। ९. करण – मन तथा दस इन्द्रियाँ। १०. चेष्टाएँ – प्राणादि के कर्म। ११. दैव – इन्द्रियों के अधिष्ठातृ-देवता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

ज्ञान[१२], ज्ञेय[१३] और परिज्ञाता[१४] – यह तीन प्रकार की कर्मप्रेरणा[१५] है। करण[१६], कर्म[१७] और कर्ता[१८] – यह तीन प्रकार का कर्मसंग्रह[१९] है। १८

गुणसंख्यान में (अर्थात् गुणों की संख्या करनेवाले सांख्यशास्त्र में) ज्ञान, कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन प्रकार के ही कहे जाते हैं; उनको भी तू यथार्थ रूप से सुन। १९

जिस (ज्ञान) के द्वारा (मनुष्य) (बहुरूपों में) विभक्त हुए समस्त प्राणियों में एक अविभक्त (अर्थात् अभिन्न) अव्यय भाव को (अर्थात् अक्षर आत्मवस्तु को) देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। २०

परन्तु जो ज्ञान समस्त प्राणियों में भिन्न भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग अलग रूप से जानता है,[२०] उस ज्ञान को तू राजसिक जान। २१

---

१२. ज्ञान – जिसके द्वारा जाना जाए। १३. ज्ञेय – जो जानने में आए। १४. परिज्ञाता – जाननेवाला। १५. कर्मचोदना –कर्मप्रवृत्ति का हेतु या कर्मों का प्रवर्तक। १६. करण – जिसके द्वारा कर्म किया जाए। १७. कर्म – जो किया जाए। १८. कर्ता – करनेवाला। १९. कर्मसंग्रह – कर्मों का आश्रय। २०. 'जो ज्ञान ... जानता है' यानी 'जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य ... जानता है।'

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

परन्तु जो (ज्ञान) किसी एक कार्य में ही सम्पूर्ण की भाँति आसक्त है तथा (जो) अहैतुक (अर्थात् युक्ति से रहित), तत्त्वार्थ से रहित तथा अल्प है – वह तामसिक कहा गया है। २२

जो फल न चाहनेवाले (पुरुष) के द्वारा राग-द्वेष के बिना किया गया, (शास्त्रविधि से) नियत और आसक्तिरहित कर्म है – वह सात्त्विक कहा जाता है। २३

परन्तु जो कर्म भोगों को चाहनेवाले (पुरुष) के द्वारा या फिर अहंकारयुक्त (पुरुष) के द्वारा बहुत परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है। २४

जो कर्म अनुबन्ध (अर्थात् परिणाम), क्षय (अर्थात् हानि), हिंसा और पौरुष (अर्थात् सामर्थ्य) की अपेक्षा (अर्थात् परवाह) न करके, (केवल) मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामसिक कहा जाता है। २५

जो संगरहित, अहंकारयुक्त वचन न कहनेवाला, धृति (अर्थात् धारणशक्ति) और उत्साह से युक्त तथा (कार्य की) सिद्धि होने और न होने में निर्विकार रहनेवाला है – वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है। २६

जो रागी (अर्थात् आसक्ति से युक्त), कर्मों के फल को चाहनेवाला, लोभी, हिंसात्मक (अर्थात् दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाला), शुचिता से रहित, तथा हर्ष-शोक से युक्त है – वह कर्ता राजसिक कहा गया है। २७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

जो अयुक्त (अर्थात् असमाहित चित्तवाला), प्राकृत (अर्थात् असंस्कृत बुद्धिवाला), स्तब्ध (अर्थात् घमण्डी), धूर्त, नैष्कृतिक (अर्थात् स्वार्थ के लिए दूसरों की जीविका को नष्ट करनेवाला), तथा आलसी, सदा खिन्न रहनेवाला और दीर्घसूत्री (अर्थात् कर्तव्य में विलम्ब करनेवाला) है – वह कर्ता तामसिक कहा जाता है। २८

हे धनंजय! तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद सुन, जो (मेरे द्वारा) सम्पूर्णतया विभागपूर्वक कहा जा रहा है। २९

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् कर्ममार्ग) एवं निवृत्ति (अर्थात् संन्यासमार्ग) को, कर्तव्य एवं अकर्तव्य को, भय एवं अभय को तथा बन्धन एवं मुक्ति को जानती है, वह (बुद्धि) सात्त्विक है। ३०

हे पार्थ! जिस (बुद्धि) के द्वारा (मनुष्य) धर्म एवं अधर्म को तथा कर्तव्य एवं अकर्तव्य को भी यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसिक है। ३१

हे पार्थ! तमोगुण से आच्छन्न हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मान लेती है तथा समस्त पदार्थों को विपरीत ही (समझती है) – वह तामसिक है। ३२

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी (अर्थात् एकनिष्ठ) धृति (अर्थात् धारणशक्ति) के द्वारा (मनुष्य) योग से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओ को धारण करता है (अर्थात् उन्हें शास्त्रविरुद्ध विषयों में प्रवृत्त नहीं होने देता) – वह धृति सात्त्विक है। ३३

परन्तु हे अर्जुन! हे पार्थ! जिस धृति के द्वारा (मनुष्य) धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है (अर्थात् अवश्यकरणीय रूप से ग्रहण करता है) तथा (उस उस धर्म आदि) प्रसंग से फल चाहनेवाला होता है – वह धृति राजसिक है। ३४

हे पार्थ! जिस (धृति) के द्वारा दुर्बुद्धि (मनुष्य) निद्रा, भय, शोक, खिन्नता और मद को भी नहीं छोड़ता (अर्थात् धारण किये रहता है) – वह धृति तामसिक है। ३५

हे भरतश्रेष्ठ! अब तू मुझसे तीन प्रकार के सुख को भी सुन! जहाँ (अर्थात् जिस सुख में) (मनुष्य) अभ्यास से रमण करता है और (जहाँ वह) दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है, – ३६

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

जो वह (सुख) पहले विष जैसा[२१] (प्रतीत) होता है (परन्तु) परिणाम में अमृत के तुल्य है, आत्मबुद्धि के प्रसाद से (अर्थात् आत्मनिष्ठ बुद्धि की निर्मलता और प्रसन्नता से) उत्पन्न हुआ वह सुख सात्त्विक कहा गया है। ३७

विषय और इन्द्रियों के संयोग से (उत्पन्न हुआ) जो वह (सुख) पहले अमृततुल्य (प्रतीत) होता है, (परन्तु) परिणाम में विष[२२] के जैसा होता है, वह सुख राजसिक कहा गया है। ३८

जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोह लेनेवाला होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद (अर्थात् असावधानी) से उत्पन्न सुख तामसिक कहा जाता है। ३९

पृथ्वी में, स्वर्ग में या देवताओं में भी वह (ऐसा कोई) सत्त्व (अर्थात् प्राणी या वस्तु) नहीं है, जो कि इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीन गुणों से मुक्त हो। ४०

---

२१. ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के अभ्यास के द्वारा मिलनेवाला होने के कारण सात्त्विक सुख श्रमसाध्य होता है और इसीलिए वह आरम्भ में विष जैसा प्रतीत होता है।

२२. बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन, उत्साह और परलोक आदि को नष्ट कर डालनेवाला होने के कारण राजसिक सुख को परिणाम में विष जैसा कहा गया है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव[२३] से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। ४१

शम (अर्थात् अन्तःकरण का निग्रह), दम (अर्थात बाह्य इन्द्रियों का दमन), तप, (बाहरी और भीतरी) शुद्धता, क्षमा, आर्जव (अर्थात् सरलता), (शास्त्र)ज्ञान, विज्ञान (अर्थात् तत्त्वानुभूति), आस्तिक्य (अर्थात् शास्त्रादि में श्रद्धा) - ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। ४२

शूरवीरता, तेज, धृति (अर्थात् धारणाशक्ति), दक्षता (अर्थात् निपुणता), युद्ध में न भागना, दान तथा ईश्वरभाव (अर्थात् दूसरों पर शासन करने की क्षमता) – ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। ४३

कृषि, गोपालन और वाणिज्य – ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवाशुश्रूषारूप कर्म शूद्र का स्वाभाविक (कर्म) है। ४४

अपने अपने (स्वाभाविक) कर्म में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने (स्वाभाविक) कर्म में लगा हुआ (मनुष्य) जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है वह तू सुन। ४५

जिससे (समस्त) प्राणियों की प्रवृत्ति (अर्थात् उत्पत्ति या चेष्टा) होती है तथा जिससे यह समस्त (संसार) व्याप्त है, उसकी अपने (स्वाभाविक) कर्म द्वारा पूजा करके मानव सिद्धि को प्राप्त करता है। ४६

---

२३. स्वभाव यानी ईश्वर की प्रकृति या माया। अथवा स्वभाव यानी जन्मान्तर में किये कर्मों के संस्कार जो वर्तमान जन्म में कार्योन्मुख होकर अभिव्यक्त हुए हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

अपना धर्म विगुण (अर्थात् दोषयुक्त) होने पर भी उत्तम रूप से आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से श्रेष्ठतर है! (क्योंकि) स्वभाव से नियत किये हुए (स्वधर्मरूप) कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। ४७

हे कौन्तेय! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म[२४] को नहीं त्यागना चाहिए; (क्योंकि) धुएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म (किसी न किसी) दोष से आच्छादित हैं। ४८

सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, जीते हुए अन्तःकरणवाला तथा स्पृहा (अर्थात् भोगतृष्णा) से रहित (मनुष्य) संन्यास[२५] के द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि[२६] को प्राप्त होता है। ४९

हे कौन्तेय! सिद्धि (अर्थात् ज्ञाननिष्ठायोग्यता) को प्राप्त हुआ (मनुष्य) जिस प्रकार ब्रह्म को – जो कि ज्ञान की परमनिष्ठा है – पा लेता है, उस प्रकार को तू मुझसे संक्षेप में ही समझ ले। ५०

---

२४. सहज – यानी जन्म के साथ उत्पन्न। सहज कर्म यानी स्वाभाविक कर्म। इसी को स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म आदि कहा जाता है।

२५. संन्यास – ज्ञानपूर्वक सर्वकर्मत्याग।

२६. नैष्कर्म्यसिद्धि – 'निष्क्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थान'रूप सिद्धि।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ, धैर्य से स्वयं को वश में करके, शब्दादि (अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) विषयों को त्यागकर तथा राग-द्वेष को छोड़कर, – ५१

एकान्त देश का सेवन करनेवाला, हल्का भोजन करनेवाला, मन, वाणी और शरीर को वश में करनेवाला, नित्य ध्यानयोगपरायण तथा वैराग्य का आश्रय लेनेवाला होकर, – ५२

अहंकार, बल[२७], गर्व, काम, क्रोध तथा परिग्रह[२८] को छोड़कर, ममत्वरहित तथा शान्त होकर ब्रह्म(स्वरूप) होने के योग्य बनता है। ५३

ब्रह्मभूत (अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त) हुआ प्रसन्नचित्त (पुरुष) न शोक करता है और न आकांक्षा ही करता है। समस्त भूतों में सम(भाव से युक्त) हुआ (वह) मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है। ५४

(उस परा) भक्ति के द्वारा (वह) मुझे – मैं जितना हूँ और जो हूँ (उसे) – तत्त्व से जान लेता है। फिर मुझे (इस प्रकार) तत्त्व से जानकर तत्काल ही (मुझमें) प्रवेश कर जाता है। ५५

---

२७. बल – कामना तथा आसक्ति से युक्त शक्ति।
२८. परिग्रह – दूसरों से कुछ ग्रहण करना।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

सदा समस्त कर्मों को करता हुआ भी मेरा आश्रय लेनेवाला (भक्त) मेरे अनुग्रह से सनातन अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। ५६

तू समस्त कर्मों को चित्त[२९] से मुझमें समर्पित करके, मेरे परायण होकर, बुद्धियोग[३०] का आश्रय लेकर, निरन्तर मुझमें चित्त रखनेवाला हो। ५७

मुझमें चित्त रखनेवाला होकर तू मेरे अनुग्रह से सभी कठिनाइयों को पार कर जाएगा। परन्तु यदि तू अहंकार के कारण (मेरी बात को) नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा। ५८

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', सो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; (क्योंकि) तेरा स्वभाव तुझे (युद्ध में) नियुक्त करेगा। ५९

हे कौन्तेय! मोह के कारण जो (कर्म) तू नहीं करना चाहता है, उसे भी अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा बँधा हुआ तू विवश होकर करेगा। ६०

हे अर्जुन! माया के द्वारा समस्त प्राणियों को यन्त्रारूढ़ की भाँति (अर्थात् यन्त्र पर चढ़ी कठपुतलियों की तरह) भ्रमण कराता हुआ ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है। ६१

---

२९. चित्त से अर्थात् विवेकबुद्धि के द्वारा।

३०. बुद्धियोग – मुझमें बुद्धि को स्थिर करना।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

हे भारत! तू सब प्रकार से उसी (ईश्वर) की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परमशान्ति तथा शाश्वत स्थान (अर्थात् नित्य परमधाम) को प्राप्त होगा। ६२

इस प्रकार तुझसे मैंने यह गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान कहा है। (अब) इसको पूर्णतया विचारकर तू जैसे चाहता है, वैसे ही कर। ६३

सभी गोपनीयों में अत्यन्त गोपनीय मेरे परम वचन को तू फिर से सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय है – इसी से (मैं यह) हितकर वचन तुझसे कहूँगा। ६४

तू मुझमें मन (रखने)वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो तथा मुझको प्रणाम कर। (इस प्रकार करता हुआ) तू मुझे ही प्राप्त होगा – यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, (क्योंकि) तू मेरा प्रिय है। ६५

समस्त धर्मों को त्यागकर (अर्थात् सर्व कर्मों का संन्यास करके) मुझ एक की शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर। ६६

तुझे यह (शास्त्र) कभी तपरहित मनुष्य से नहीं कहना चाहिए, न अभक्त से और न सुनने की इच्छा न रखनेवाले से ही (कहना चाहिए); तथा जो मेरे प्रति द्वेषभाव रखता है (उससे भी नहीं कहना चाहिए)। ६७

जो इस परम गोपनीय (शास्त्र) को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परमभक्ति करता हुआ निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥७४॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय करनेवाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है;
तथा भूलोक में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं। ६९

जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद को पढ़ेगा, उसके द्वारा (उस)
ज्ञानयज्ञ से मैं पूजित होऊँगा – ऐसा मेरा मत है। ७०

जो मनुष्य श्रद्धावान् तथा द्वेषभावरहित होकर (इसका) श्रवण भी
करेगा, वह भी (पापों से) मुक्त होकर पुण्यकर्म करनेवालों के शुभलोकों
को प्राप्त होगा। ७१

हे पार्थ! क्या तूने इस (शास्त्र) को एकाग्रचित्त से सुना? और
हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ संमोह नष्ट हो
गया? ७२

अर्जुन बोला –

हे अच्युत! तुम्हारी कृपा से (मेरा) मोह नष्ट हो गया है और मुझे
(आत्मतत्त्वविषयक) स्मृति प्राप्त हुई है। (अब) मैं सन्देहरहित होकर
स्थित हूँ। मैं तुम्हारे कथन को करूँगा। ७३

संजय बोला –

इस प्रकार मैंने वासुदेव एवं महात्मा पार्थ के इस अद्‌भुत
रोमांचकारक संवाद को सुना। ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्याय

व्यासजी की कृपा से मैंने इस परम गोपनीय योग को योगेश्वर श्रीकृष्ण से साक्षात् स्वयं कहते हुए सुना है। ७५

हे राजन् (धृतराष्ट्र)! केशव एवं अर्जुन के इस पुण्यकारी अद्भुत संवाद का स्मरण कर-करके मैं बार बार हर्षित हो रहा हूँ। ७६

तथा हे राजन् (धृतराष्ट्र)! श्रीहरि के उस अत्यन्त अद्भुत रूप को याद कर-करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है और मैं पुनः पुनः हर्षित हो रहा हूँ। ७७

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुषधारी पार्थ हैं, वहीं पर श्री (अर्थात् राज्यलक्ष्मी), विजय, भूति (अर्थात् अभ्युदय) तथा अचल नीति है – ऐसा मेरा मत है। ७८

ॐ तत् सत्

'ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र' रूप श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के वार्तालाप के अन्तर्गत
मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

गीतामाहात्म्यम्

धरोवाच

भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो॥१॥

श्रीविष्णुरुवाच

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते॥२॥
महापापातिपापानि गीताध्यानं करोति चेत्।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत्॥३॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै॥४॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते॥५॥

गीतामाहात्म्य

पृथ्वीदेवी बोलीं –

हे भगवन्! हे परमेश्वर! हे प्रभो! प्रारब्ध कर्म को भोगनेवाले मनुष्य को अव्यभिचारिणी (अर्थात् अचल) भक्ति कैसे प्राप्त होती है? १

श्रीविष्णुभगवान् बोले –

प्रारब्ध को भोगता हुआ भी जो सदा गीतापाठ में रत रहता है, वह इस लोक में मुक्त तथा सुखी होता है; वह कर्म से लिप्त नहीं होता। २

यदि कोई गीता का ध्यान करता है तो उसे महापाप एवं अतिपाप कभी स्पर्श नहीं करते – जैसे जल कमल की पँखुड़ियों को (स्पर्श नहीं करता)। ३

जहाँ गीता की पुस्तक होती है तथा जहाँ उसका पाठ चलता है वहाँ प्रयाग आदि समस्त तीर्थ विराजते हैं। ४

जहाँ गीतापाठ चलता है, वहाँ समस्त देव, ऋषि, योगी, नाग, तथा नारद, उद्धव एवं पार्षदों के सहित गोप और गोपिकाएँ भी शीघ्र सहायक होते हैं। ५

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि॥६॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रीन्लोकान्पालयाम्यहम्॥७॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका॥८॥

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता॥९॥

योऽष्टादश जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम्॥१०॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत्।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः॥११॥

त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत्।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत्॥१२॥

हे पृथ्वि! जहाँ पर गीता का विचार, पठन, पाठन और श्रवण होता है, वहाँ मैं निश्चित ही सदैव निवास करता हूँ। ६

मैं गीता के आश्रय में रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है। गीता के ज्ञान का आश्रय लेकर मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ। ७

गीता मेरी ब्रह्मरूपा पराविद्या है, वह अर्धमात्रा, अक्षरा, नित्या एवं अनिर्वाच्यपदात्मिका है – इसमें कोई सन्देह नहीं है। ८

चिदानन्द श्रीकृष्ण द्वारा निज मुख से अर्जुन को कही गयी यह गीता वेदत्रयरूप, परमानन्दरूप एवं तत्त्वार्थज्ञान से संयुत है। ९

जो मनुष्य निश्चलचित्त हो नित्य (गीता के) अठारह अध्यायों का जाप (अर्थात् पाठ) करता है, वह ज्ञानसिद्धि को प्राप्त कर लेता है तथा फिर परमपद को प्राप्त हो जाता है। १०

(कोई गीता का) सम्पूर्ण पाठ करने में असमर्थ हो तो उसका आधा अंश ही पाठ करे। तब भी (उसे) गोदान का पुण्य प्राप्त होगा – इसमें सन्देह नहीं है। ११

तिहाई अंश का पाठ करनेवाला गंगास्नान का फल प्राप्त करता है तथा छठे अंश का पाठ करनेवाला सोमयाग का फल प्राप्त करता है। १२

एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम्॥१३॥

अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे॥१४॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम्।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः॥१५॥

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम्।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्॥१६॥

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत्॥१७॥

गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते॥१८॥

जो प्रतिदिन भक्तियुक्त हो एक अध्याय का पाठ करता है वह रुद्रलोक को प्राप्त होता है तथा वहाँ (रुद्रदेव का) गण बनकर सदा निवास करता है। १३

हे वसुन्धरे! जो मनुष्य प्रतिदिन अध्याय के चौथाई अंश का पाठ करता है, वह मन्वन्तर तक के लिए मनुष्यत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् निम्न योनियों में नहीं जन्मता)। १४

जो मनुष्य गीता के दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक या आधे ही श्लोक का पाठ करता है, – १५

वह निश्चित ही अयुत वर्षों तक के लिए चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। गीतापाठ में लगा रहनेवाला व्यक्ति मृत होने के पश्चात् मनुष्यता को प्राप्त होता है। १६

पुनःपुनः गीतापाठ करके मनुष्य उत्तम मुक्ति को प्राप्त होता है। 'गीता' शब्द का उच्चारण करते हुए मरनेवाले को सद्गति प्राप्त होती है। १७

गीतार्थ के श्रवण में जिसका लगाव है ऐसा व्यक्ति महापापी हो तो भी वैकुण्ठ को प्राप्त होता है तथा विष्णु के साथ आनन्द भोगता है। १८

गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम्।।१९।।

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम्।।२०।।

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत्।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः।।२१।।

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात्।।२२।।

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीतायाः मया प्रोक्तं सनातनम्।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत्।।२३।।

इति श्रीवाराहपुराणे श्रीगीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम्।

अनेक प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी जो नित्य गीतार्थ का ध्यान करता है, उसे जीवन्मुक्त ही जानना चाहिए। देहान्त के पश्चात् वह परमपद को प्राप्त होता है। १९

गीता का आश्रय लेकर जनक आदि अनेक राजा इस लोक में पापमुक्त के रूप में प्रसिद्ध हुए तथा परमपद को प्राप्त हुए। २०

जो गीता का पाठ करके उसके माहात्म्य को नहीं पढ़ता, उसका पाठ व्यर्थ होता है, वह केवल श्रम ही कहा जाता है। २१

जो इस माहात्म्य के साथ गीतापाठ करता है, वह उसके फल को पाता है – वह दुर्लभ गति को प्राप्त होता है। २२

सूतजी ने कहा –
गीता के इस सनातन माहात्म्य को मैंने कहा। जो गीतापाठ के पाश्चात् इसे पढ़ेगा उसे इसमें कहे अनुसार फल प्राप्त होगा। २३

इस प्रकार वराहपुराण का श्रीगीतामाहात्म्य समाप्त हुआ।

परिशिष्ट

अध्याय १० : श्लोक ६

१. सात महर्षि – मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ। २. पहले के चार महर्षि – सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। ३. चौदह मनु – स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।

अध्याय १० : श्लोक २१

१. आदित्य बारह हैं – धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु।

२. मरुद्गण (वायुदेवता) उनचास हैं – सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश्।

अध्याय १० : श्लोक २३

१. रुद्र ग्यारह हैं – हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली।

२. वसु आठ हैं – धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास।

अध्याय ११ : श्लोक २२

१. साध्य देवता बारह हैं – मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु।

२. विश्वेदेव दस हैं – क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान।

३. ऊष्मपा अर्थात् पितर सात हैं – कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात और बर्हिषत्। उष्ण अन्न खाने के कारण पितर ऊष्मपा कहलाते हैं।

अध्याय १५ : श्लोक १

यहाँ मायामय संसार की पीपल के वृक्ष से तुलना की गयी है। सर्वोच्च नित्यधाम में वास करने के कारण परमेश्वर या अव्यक्त मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म ही ऊर्ध्व नाम से अभिहित है। उसी ऊर्ध्वनामक परमेश्वर से इस संसारवृक्ष की उत्पत्ति होने के कारण उसे ऊर्ध्वमूल यानी ऊपर मूलवाला कहा है।

नित्यधाम से निकृष्ट, नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को अधः कहा जाता है। उसी अधोनामक हिरण्यगर्भ से लेकर जीव-जगत् तक इस संसारवृक्ष का विस्तार होने के कारण वह इसकी मुख्य शाखा है। इसलिए इस संसारवृक्ष को अधःशाख कहा है।

अश्वत्थ – यानी जो कल नहीं रहेगा ('न श्व स्थास्यति')। तात्पर्य,

जो अल्पस्थायी है, जिसकी स्थिति सन्देहजनक है।

अव्यय – संसारवृक्ष नाशवान् होने पर भी अनादिकाल से उसकी परम्परा चली आती है। अतः प्रवाह रूप से वह क्षयरहित या नित्य ही है; इसीलिए उसे अव्यय कहा गया है।

जिस प्रकार पत्ते वृक्ष की शाखा से प्रकट हो उसका रक्षण-वर्धन करते तथा उसकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार वेद इस संसारवृक्ष की शाखारूप ब्रह्मा से प्रकट होनेवाले तथा (यज्ञादि कर्मों द्वारा) इसका रक्षण-वर्धन करनेवाले तथा इसकी शोभा बढ़ानेवाले होने से उन्हें इसके पत्ते कहा गया है।

इस संसार के नश्वर स्वरूप को जान इसके मूल परमेश्वर को जानना ही वेद के तात्पर्य को जानना है।

अध्याय १५ : श्लोक २

मुख्य शाखारूप ब्रह्मा से त्रिगुण द्वारा समस्त लोकों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है। इसलिए इन्हें शाखाएँ कहा गया है। इनमें से अंकुर की भाँति शब्दादि विषय प्रकट होते हैं। मनुष्य से लेकर नीचे स्थावर तक और ऊपर हिरण्यगर्भ तक इनका विस्तार है।

संसारवृक्ष का परम मूल परमात्मा कहा गया है किन्तु यहाँ कर्मफलजनित वासना को अवान्तर मूल कहा गया है। यही वासना धर्माधर्म प्रवृत्ति की कारण है। इन मूलों का विस्तार नीचे मनुष्यलोक में ही है क्योंकि वैदिक कर्मों में मनुष्यों का ही अधिकार है।

□□□

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

तु मुझमें मन (रखने)वाला हो, मेरा भक्त हो,
मेरा पूजन करनेवाला हो तथा मुझको प्रणाम कर।
(इस प्रकार करता हुआ) तू मुझे ही प्राप्त होता -
यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, (क्योंकि)
तू मेरा प्रिय है।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य
तथा अन्य आध्यात्मिक प्रकाशन
प्राप्त करने के लिए लिखें
रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२
e-mail - rkm.nagpur@rkmpbngp.org
www.rkmathnagpur.org

ISBN 978-9-3837517-9-2

(H-109) Shrimad Bhagvad Gita : ₹ 35.00